वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास

भगवान् विष्णु को अपना प्रधान इष्ट देव और परमात्मा के रूप में मानने वाले भक्त वैष्णव कहे गये तथा तत्सम्बन्धी धर्म-दर्शन और सिद्धांत वैष्णव धर्म[187]। विष्णु वैदिक देवता हैं जिनका प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ता गया। वैष्णव धर्म में विष्णु सम्बन्धी अवैदिक सूक्त और आख्यान निहित हैं। ऋग्वेद में देवताओं के ऐश्वर्य,पराक्रम विस्तार आदि के अतिरिक्त उपनिषदों के ज्ञान, दर्शन और सिद्धांत आदि का भी समावेश इस धर्म में हुआ है। याज्ञिक

---

183. रामायण, बालकण्ड, 15.15.16, एतस्मिन्नंतरे विष्णुरूपयातो महाद्युतिः । शंखचक्रगवा पाणिः पीतवासः जगत्पतिः वैनतेयं समारुह्य .....।

183.. द्रष्टव्य, पादटिप्पणी सं० 162 और 163.

184. मत्स्य-पुराण, 43.12, कर्तु धर्मस्य संस्थानमसुराणां प्रशासनम् ।

185. भागवत पुराण, 10.21.40, 10.29.14.
नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप ।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥

186. विष्णु पुराण, 2.2.3, एकानेक स्वरूपाय स्थूलसूक्ष्मात्मने नमः।
अव्यक्तव्यक्तरूपाय विष्णवे मुक्तिहेतवे ॥

187. द्रष्टव्य, भंडारकर; वैष्णविज्म,शैविज्म ऐण्ड माइनर रिलिजस सेक्ट्स; सुवीरा जायसवाल, ओरिजिन ऐण्ड डेवलपमेण्ट अव वैष्णविज्म ।

कर्मकाण्ड के स्थान पर भक्ति और उपासना का सन्निवेश है। वैष्णव साधक की दृष्टि में यह विशाल विश्व उस ऐश्वर्यशाली विष्णु की ही शक्तियों की अनेकानेक अभिव्यक्ति है। समस्त जगत् उन्हीं की विलक्षण कृति है। उसमें (विष्णु अथवा हरि) और जगत् में कोई भी भेद नहीं है। उनके अवतारों की इयत्ता नहीं। जिस प्रकार न सूखने वाले सरोवर से सहस्त्रों कुल्याएँ (छोटी धाराएँ) निःसृत होती हैं उसी प्रकार उस तत्त्व-निधि हरि से असंख्य अवतारों का उद्गमन होता है[188]। यद्यपि अधिकतम अवतारों की संख्या 24 है और न्यूनतम 10, तथापि हिन्दू धर्म में विष्णु के 10 अवतार अधिक प्रख्यात हुए। ये दस अवतार हैं - मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, बलराम, बुद्ध और कल्कि। इन अवतारों में कृष्ण का नाम नहीं है, क्योंकि कृष्ण स्वयं भगवान् के साक्षात् स्वरूप हैं[189]। विष्णु के अवतारों के विवरण में बलराम को गृहीत कर दस संख्या की पूर्ति की गई है। श्रीकृष्ण विष्णु के ही रूप हैं। युधिष्ठिर ने उनकी स्तुति करते हुए कहा है, "यह सम्पूर्ण जगत् आपकी लीलामयी सृष्टि है। आप इस विश्व के आत्मा हैं। आपही से इस जगत् की उत्पत्ति हुई है। व्यापक होने के कारण आप ही 'विष्णु' हैं, विजयी होने के कारण 'जिष्णु', दुःख और पाप हरने के कारण 'हरि', अपनी ओर आकृष्ट करने के कारण 'कृष्ण', विकुण्ठ धाम के अधिपति होने के कारण 'बैकुण्ठ' तथा क्षरअक्षर पुरुष से उत्तम होने के कारण 'पुरुषोत्तम'[190]। इस प्रकार विष्णु का आयाम अत्यन्त विशाल है। वैदिकयुगीन उनकी पराक्रमशीलता परवर्ती काल में आकर शक्ति सम्पन्न हुई। उनके व्यक्तिव में अनेकानेक गुण समाहित हुए। उन्हें अत्यन्त पराक्रमी, आनन्द-प्रदानकर्त्ता, उपकार करने वाला, पतितपावन, विष्णु-स्वरूप, देव-मन्दिर, गीतज्ञ, गीतप्रिय, विद्या और यज्ञ का आधार, सृष्टिकर्त्ता और तारक, व्यापक, परमपद, लोकभरणकर्त्ता, सर्वभूतों में निवास करने वाला कहा गया है।

वैष्णव धर्म की प्रारंभिक स्थिति : वासुदेव और भागवत धर्म

वैष्णव धर्म का प्रारम्भिक रूप भागवत धर्म के अन्तर्गत देवकीपुत्र भगवान् वासुदेव कृष्ण के पूजन में दर्शित होता है जो सम्भवतःछठी सदी ई० पू० के पहले स्थापित हो चुका था। वासुदेव, जो कृष्ण का प्रारम्भिक नाम था, पाणिनि के युग में प्रचलित था। उस युग में वासुदेव की उपासना करनेवाला 'वासुदेवक' कहे जाते थे[191]। सम्भवतः वासुदेव-कृष्ण को प्रधान देवता मानकर उनकी उपासना समाज में भक्ति के नए आदर्श के रूप में प्रचलित हुई। मथुरा क्षेत्र में उनकी जाति का प्रभाव था। वे सम्भवतः क्षत्रिय नहीं थे। उनकी जाति को स्यात् मथुरा से गुजरात की ओर जाना पड़ा। उस समय उत्तरी भारत विघटन और संघर्ष में पड़ा हुआ था। कृष्ण ने अपने मत का संचालन किया। पतंजलि ने भाष्य करते हुए लिखा है कि वासुदेव 'पूजार्ह' (तत्रभवतः) अर्थात् भगवान की संज्ञा है, जो दिव्य पुरुष हैं। वे शायद वृष्णि-वंशी

---

188. भागवत पुराण, 1.3.26, अवतारी ह्यसंख्येय हरेः सत्वनिधेर्द्विजाः ।
यथाऽविदासितः कुल्याः सरसः स्तु सहस्त्रशः ॥

189. वही, 1.3.6.25; 2.7.1-45; 1.3.28, एते चासकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।

190. महाभारत, शांतिपर्व, 43.5, विश्वकर्मन् नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन् विश्वसम्भव ।
विष्णो जिष्णो हरे कृष्ण बैकुण्ठ पुरूषोत्तम ॥

191. अष्टाध्यायी, 4.3.98, वासुदेवार्जुनाभ्यां तुन् ।

रहे। पतंजलि के अनुसार वासुदेव विष्णु के रूप थे। तत्कालीन समाज में कंस और वासुदेव सम्बन्धी आख्यान प्रचलित हो चुके थे[192]। उस युग में कंस-वध के चित्र बनाये जाते थे तथा वासुदेव-कृष्ण का यशगान किया जाता था। वासुदेव (जर्नादन) के चतुर्व्यूह का उल्लेख भी पतंजलि द्वारा किया गया गया है[193]। कृष्ण और संकर्षण की सम्मिलित सेना तथा उनके प्रासाद और मन्दिरों का भी विवरण उसमें मिलता है[194]। अतः पाणिनि के काल से वासुदेव का पूजन और भागवत धर्म का प्रसार तीव्र गति से प्रारम्भ हो चुका था। गृहपत्नी और गृहपति, जो भागवतधर्म का अनुसरण करते थे, 'भागवती' और भागवतम्' कहे जाते थे[195]। 'वासुदेव' के उपासकों के प्रारम्भिक अभिलेख भी मिलते हैं। बेसनगर स्थित द्वितीय ई० पू० के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि यूनानी दूत तक्षशिला-निवासी होलिओदोर ने देवाधिदेव वासुदेव के स्मरण में गरुड़ध्वज स्थापित कराया था[196] और अपने को 'भागवत्' घोषित किया था। स्पष्ट है कि भागवत धर्म का समाज में इतना अधिक प्रभाव था कि कभी-कभी विदेशी भी उसके अनुयायी बन जाते थे और आराध्य देव के सम्मान और स्मरण में अभिलेख उत्कीर्ण कराते थे। पहली सदी ई० पू० के नानाघाट-अभिलेख में संकर्षण (वासुदेव-कृष्ण के भाई बलराम और वासुदेव का उल्लेख हुआ है. जो तद्युगीन वासुदेव-पूजन के प्रचलन और वासुदेव धर्म के प्रसार को पुष्ट करता है[197]।

'महाभारत' में वासुदेव का अनेक बार नाम लिया है। वासुदेव के सम्बन्ध में भीष्म का कथन है, ''इस नित्य, मंगलमय, अद्भुत और अनुरागी देवता को वासुदेव रूप में समझना चाहिए। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भक्ति-संवलित कार्यों से उनकी पूजा करते है[198]।'' वृष्णि लोग वासुदेव के अनुयायी थे, जो कालान्तर में 'सात्वत' भी कहलाये[199]। भगवान वासुदेव ने स्वयं कहा है कि ''मैं वृष्णियों में वासुदेव हूँ, पाण्डवों में धनंजय, मुनियों में व्यास और कवियों में उशना[200]।'' सात्वत लोग वासुदेव को परम ब्रह्म के रूप में मानकर विशिष्ट साधना द्वारा पूजते थे[201]। 'भागवत पुराण' में उल्लिखित है कि सभी जीवों में स्थित भगवान को अपने हृदय में दर्शित करना चाहिए और सब के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए। ऐसा करने वाला व्यक्ति ही सच्चा भक्त है। इस प्रकार के व्यक्ति में आदर्श भावना, श्रद्धा, विनय, दोषदृष्टि का अभाव, मित्रता भाव, शांत विचार, सत्यता और शुद्धता होती है। वह

---

192. महाभाष्य, 3.2.111, जघान कंसं किल वासुदेवः; 3.1.26, कंसवधमाचष्टे कंसं घातयति बलिबंधमाचष्टे बलि बन्धयति ।
193. वही, 6.3.5, जनार्दनस्त्वात्म चतुर्थ एव ।
194. वही, 2.2.24, संकर्षण द्वितीयस्य बलं कृष्णस्य वर्द्धताम्; 2.2.34, प्रासादे धनपनि राम केशवानाम् ।
195. अष्टाध्यायी, 2.4.13.
196. लिस्ट अव ब्राह्मी इन्स्क्रिप्शन्स, सं० 669.
197. वही, सं० 1112.
198. महाभारत, भीष्मपर्व, अध्याय 66.
199. वही, आदिपर्व 218.12; द्रोणपर्व, 97.36; उद्योगपर्व, 707.
200. गीता, 10.37, वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥
201. भागवत पुराण, 9.9.40.

सम्पत्ति और विपत्ति को समान मानता है तथा उत्तम, मध्यम और अधम को सम-भाव से समझता है। ऐसा भागवत-अनुयायी काम और अर्थ से बहुत दूर रहता है। वह मन में ऐसी प्रवृत्ति नहीं लाता। इस प्रकार की प्रवृत्ति रखने वाले व्यक्ति का पुरुषार्थ नष्ट हो जाता है और मन, प्राण, इन्द्रिय, शरीर, धर्म, बुद्धि ,श्री, तेज, स्मृति, सत्य आदि भी लुप्त हो जाते हैं। वह लोकोपकारी तथा निस्पृह मार्ग का अनुसरण करता है। विष्णुपुराण के अनुसार सात्वत अंश का पुत्र था और कालांतर में उसके नाम से उसका वंश चला[202], और उस वंश में होने वाले लोग भगवान् वासुदेव के अनुयायी हुए। अतः वासुदेव को 'सात्वतर्षभ' भी कहा गया[203]। यह भी सम्भव हो सकता है कि सात्वत जाति के लोगों में भागवत सम्प्रदाय का विकास हुआ जो वासुदेव को परमेश्वर के रूप में मानता था और सविधि पूजन अर्चन करता था। वासुदेव-पूजन मौर्य-युग में भी प्रचलित था। मेगस्थनीज नामक यूनानी यात्री ने मथुरा के 'सौरसेनोइ' नामक जाति और 'जोबारेस' नामक नदी का उल्लेख किया है, जो क्रमशः 'सुरसेन और 'यमुना' शब्दों को व्यंजित करते हैं। ऐसा लगता है कि भागवत धर्म का उदय मौर्य-युग के बहुत पहले हो चुका था, जो सम्भवतः बौद्ध युग के पूर्व का समय था। उसके बाद से भागवत धर्म समाज में सक्रियतापूर्वक स्थान बनाने लगा तथा महाभारत की रचना के समय भागवत धर्म एक प्रमुख धर्म बन गया था। परमेश्वर ने वासुदेव के रूप में इस भूतल पर अवतार लेकर लोगों को नवीन आस्था और विश्वास प्रदान किया तथा कहा, ''बुद्धिमान व्यक्ति जन्मों के अन्त में यह मानते हुए कि वासुदेव ही सब कुछ हैं स्वयं को मुझमें अर्पित करता हुआ मुझे भजता है, ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है[204]।''अतः वासुदेव भागवत सम्प्रदाय के सर्वोच्च आराध्य शिव थे जिनका पूजन परमेश्वर रूप में उनके अनुयायियों द्वारा अत्यन्त निष्ठापूर्वक किया जाता था। परवर्ती काल में 'वासुदेव' शब्द उनके पिता के लिए व्यवहृत किया जाने लगा। विष्णु-पुराण में 'वासुदेव' को विष्णु के नाम के रूप में स्वीकार किया गया है तथा यह कहा गया है कि विष्णु सर्वत्र है, जिसमें सभी का वास है, इसलिए वह 'वासुदेव' है[205]। एक अन्य स्थल पर 'वासुदेव के लिए यह विवृत है, 'सम्पूर्ण' संसार रूप महावृक्ष के मूलस्वरूप, भूत, भविष्य, और वर्तमानकालीन संपूर्ण देवों, असुरों और मुनिजन की बुद्धि के लिए अगम्य तथा ब्रह्म और अग्नि आदि देवताओं द्वारा प्रणाम करके भू-भार-हरण के लिए प्रसन्न किये गये तथा आदि, मध्य और अंतहीन भगवान् वासुदेव ने देवकी के गर्भ से अवतार लिया। उन्हीं की कृपा से महान् महिमावाली योगनिद्रा भी नन्द गोप की पत्नी यशोदा के गर्भ से स्थित हुई[206]।'' वायुपुराण में

---

202. विष्णु पुराण, 3.12.
203. भागवत पुराण, 10.58.42; 11.27.5.
204. गीता, 7.19, बहूनां जन्ममनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुलर्भः ॥
205. विष्णु-पुराण, 1.2.7-12, विष्णुं ग्रसिष्णु विश्वस्य स्थितौ सर्गे तथा प्रभुम् ।
सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेंति वै मतः ।
ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते ॥
206. वही, 4.15.30, ततश्च सकलजगन्महातरुमूलतौ भूतभविष्यदादिसकलसुरासुरमुनिजनमन-सामप्यगोचरोऽडजभवप्रमुखैःरनलमुखैःप्रणम्यावनिभारहरणांय प्रसादितो भगवानाधिमध्यनिधनो देवकीगर्भमवततातार वासुदेवः ।

भगवान वासुदेव के पिता वसुदेव का उल्लेख है, जिसके अनुसार वसुदेव की तपस्या के परिणामस्वरूप देवकी के गर्भ से चतुर्बाहुवाले दिव्य रूपी भगवान् ने जन्म लिया[207]।

वासुदेव और नारायण

वासुदेव के लिए 'नारायण' का भी उल्लेख मिलता है। 'नारायण' की 'नाडायन' शब्द से व्यंजन की गई है[208]। उसका अर्थ 'नर' या नरों के समूह के रूप में गृहीत किया जाता है। 'नर' शब्द का व्यवहार वैदिक देवों के लिए भी हुआ है, इसलिए 'नारायण शब्द' 'देवों का आश्रय' अर्थ अभिव्यक्त करता है। महाभारत के शांतिपर्व में नारायणीय खण्ड की कथा 'नारायण' से सम्बद्ध है। नारद को परम पुरुष वासुदेव ने वासुदेव धर्म की दीक्षा दी थी। इसलिए पहले वह नारायण की आराधना करते थे और तब पितरों की। नारायण ही उनके माता-पिता और पितामह थे[209]। आख्यानों में नारायण को जल में शेष-शैया पर दर्शित किया गया है ,जो 'नारायण' के दूसरे अभिप्राय को सार्थक करता है। मनु के अनुसार 'नर' का अर्थ जल भी होता है, जो नर (परमात्मा) की संतान है। वह 'नारा' (जल) परमात्मा का प्रथम आश्रय है, इसलिए परमात्मा 'नारायण' कहे जाते हैं[210]। पुराणों में नारायण के विषय में विस्तृत सूचनाएँ मिलती हैं जिनके अनुसार नारायण परम पुरुष परमात्मा है। विष्णु पुराण में लिखा है कि 'नर' (परम पुरूष) से उत्पन्न होने के कारण जल को 'नार कहते हैं , वह नार (जल) ही उनका प्रथम अयन (आवास) है, इसलिए भगवान् को नारायण कहते हैं[211]। मत्स्य, वायु, ब्राह्मण पुराणों में नारायण को विष्णु का स्वरूप माना गया है[212]। वैदिक युगीन अनेक ऐसे सन्दर्भ मिलते हैं जिनके अनुसार नारायण के मूल आधार का भान होता है। ऋगवेद में उल्लिखित है कि स्वयंभू नारायण ने समस्त जीवों को धारण किया था[213]। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार नारायण में ही सभी लोक, देव, वेद, और प्राण प्रतिष्ठित हैं[214]। महाभारत में एक स्थल पर कहा गया है,

---

207. वायु पुराण, 96.193.94, देवकयां वसुदेवेन तपसा पुष्करेक्षणः ।
चतुर्बाहुस्तु संजज्ञे दिव्यरूपः श्रियान्वितः ।
प्रकाशो भगवान्योगी कृष्णो मानुषमागतः ।

208. अष्टाध्यायी, 4.1.81.

209. महाभारत, शान्तिपर्व, 3,45.7, यजामि वै पितृन साधो नारायणविधौ कृते ।
एवं स एव भगवान् पिता माता पितामहः ॥

210. मनु० 1.17, आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
ता यदस्यायनं पूर्व तेन नारायण स्मृतः ॥

211. विष्णु पुराण, 1.4.6, आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
अयनं यस्य ताः पूर्व तेन नारायणः स्मृतः ॥

212. म० पु०, 132.4, एष नारायणो भूत्वा हरिरसीत्सनातन।; वा० पु० 23.95, साध्यो नारायणश्चैव विष्णुरत्रिभुवनेश्वरः; ब्र० पु०, 4.10.34, आदि नारायणः श्रीमान्मोहिनीरूपमादधे ।

213. ऋग्वेद, 10.82.56.

214. शतपथ ब्राह्मण, 13.3.4.11, सर्वाल्लोकानात्मन्निधिषि सर्वेषु लोकेष्वात्मनमधा सर्वान्देवानात्मन्निधिषि. ..... सर्वेषुर्वेदेष्वात्मानमधा सर्वान्प्राणानात्मन्निधिषि..... ।

''जब सातवें कल्प के आरम्भ में सातवीं बार ब्रह्म जी के जन्म-ग्रहण का अवसर आया तब शुभ और अशुभ से अमित तेजस्वी महायोगी भगवान् नारायण ने सबसे पहले अपने नाभि-कमल से ब्रह्म को उत्पन्न किया[215]।'' ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में एक ऋषि का नाम 'नारायण' वर्णित किया गया है, जो सम्भवः परवर्ती काल में आकर 'वासुदेव' अथवा 'विष्णु' से सम्बन्धित किया गया। तैत्तिरीय आरण्यक के विवरण में 'नारायण' को उन समस्त विशेषणों से युक्त किया गया है जो उपनिषदों में विवृत है[216]। पौराणिक कथाओं में भगवान नारायण को क्षीर-सागर में शेषनाग की शैय्या पर सोये हुए प्रदर्शित किया गया है। अतः नारायण का जल से सम्बन्ध स्थापना का आख्यान पुराकालीन है। परम पुरुष परमात्मा के रूप में नारायण की प्रतिष्ठा 'वासुदेव' के पहले ऋग्वेद काल में ही हो चुकी थी, महाकाव्य युग में 'वासुदेव' का गौरव बढ़ा और 'नारायण' के साथ वासुदेव का समन्वय किया गया। उस सम्बन्ध का सुन्दर और सरल वर्णन महाभारत के वनपर्व में हुआ है, जिसका आख्यान मारकण्डेय जी युधिष्ठिर को सुनाते हैं: सृष्टि के प्रलय काल में सर्वत्र जल ही जल व्याप्त था। वहीं मारकण्डेय मुनि भी आ गये थे। उस शिशु ने जब अपना मुख खोला तब मारकण्डेय उसके मुख में चले गये, जहाँ उन्होंने अत्यन्त आश्चर्य के साथ सम्पूर्ण सृष्टि को देखा। इसके बाद उस शिशु ने मारकण्डेय ऋषि को उगल दिया और वे फिर जल में आ गये। इसपर मारकण्डेय ने उस शिशु से पृच्छा की, ''आप कौन हैं?'' तब उसे उत्तर दिया, ''मैने जल को 'नारा' नाम की संज्ञा दी है, जो मेरा अयन है, इसलिए मैं नारायण हूँ।'' तदनन्तर मार्कण्डेय जी ने युधिष्ठिर से कहा, ''आपके सम्बन्धी जनार्दन ही नारायण हैं[217]।'' महाभारत के नारायणीय खंड में भी वासुदेव के नारायणीय रूप की चर्चा की गई है। एक अन्य कथा में यह कहा गया है कि नारायण चार मूर्तियों (नर, नारायण, हरि, और कृष्ण) के रूप में धर्म के आत्मज थे,[218] जो कालांतर में आकर सत्य, अहिंसा, परम-ब्रह्म आदि तत्त्वों से सम्बद्ध होकर समाज के धार्मिक जीवन के महत्त्वपूर्ण अंग बन गए। अर्जुन और कृष्ण को महाभारत में नर और नारायण का रूप माना गया है, जो विभिन्न स्थलों पर दृष्टिगत होता है। नर और नारायण के तादात्म्य का यहाँ एक ही दृष्टांत पर्याप्त होगा: जनार्दन अर्जुन से कहते हैं, "हे अजेय, तू, नर है, मैं नारायण। हम दोनों (नर और नारायण) इस भूतल पर समयानुसार अवतरित हुए हैं। हे पार्थ, न तुम मुझसे पृथक हो और न मैं तुमसे। हमारे बीच कोई अन्तर नहीं।[219]'' अतः ऊपर के विश्लेषण से स्पष्ट है कि नारायण और वासुदेव एक ही परम पुरुष के पर्यायवाची नाम थे। नारायण नाम पहले प्रचलित हुआ था और वासुदेव बाद में। स्मृतियों में भी 'नारायण' की जगत्पति के रूप में वन्दना की

---

215. महाभारत शांति पर्व, 349.14-18,
प्राप्ते प्रजाविसर्गे वै सप्तमे पद्मसम्भवे ।
नारायणो महायोगी शुभाशुभविवर्जितः ॥
ससृजे नाभितः पूर्व ब्रह्माणममितप्रभः ।
ततः स प्रादुरभवदथैनं वाक्यब्रवीत ॥
216. तैत्तिरीय आरण्यक, 10.11.
217. महाभारत, वनपर्व, अध्याय 188-89.
218. वही, नारायणीय खण्ड; वामन पुराण, अध्याय 6.
219. महाभारत , वनपर्व 12.46.47.

गयी है[220]। जो इस बात का प्रमाण है कि नारायण का पूजन समाज में त्वरित गति से बढ़ रहा था और उनके अनुयायियों की संख्या में वृद्धि हो रही थी।

वासुदेव और विष्णु

देवता के रूप में विष्णु का अस्तित्त्व वैदिकयुगीन है। ऋग्वेद में उनकी स्तुति अनेक सूक्तों में की गई है। उनके विक्रम, पराक्रम, और यश में समस्त जगत् समाविष्ट था। इसीलिए वे विश्व में व्यापनशील थे[221]। उनकी वन्दना में कहा गया है कि उन्होंने अपने तीन ही पद में समस्त लोकों को माप लिया था। उनके दो पद तो दृश्य थे किन्तु तीसरा पद पूर्णतः अदृश्य, पक्षियों की उड़ान से भी परे। स्वर्ग में अनिमेष देखते हुए उनके परमपद का दर्शन किया जा सकता था, मधु के उत्स के समान उनके परमपद थे, जहाँ देवगण आनन्द-लाभ करते थे[222]। उत्तरवैदिक काल के तत्कालीन समाज में विष्णु का प्रभाव और आयाम बढ़ने लगा, जो महाकाव्य-काल में आकर और अधिक बढ़ गया, जिसने उन्हें सृष्टिकर्त्ता और जगन्नियन्ता का पद प्रदान किया। ब्राह्मण ग्रंथों में विष्णु को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है[223]। शतपथ ब्राह्मण के एक उपाख्यान से ज्ञात होता है कि देवताओं ने आपस में यह निश्चय किया कि जो देवता अपने कर्म से अन्त का पता पा लेगा वह सर्वश्रेष्ठ माना जायेगा। देवताओं में विष्णु ने सर्वप्रथम अन्त को प्राप्त कर लिया, फलस्वरूप वे ही देवताओं में सर्वोच्च पद के अधिकारी हुए तथा तीन पदों के कारण प्राप्त विजय से देवताओं को उन्होंने अपरिमेय अधिकार से सम्पन्न किया[224]। देवताओं और असुरों के बीच हुए संघर्ष में विष्णु (वामन-अवतार के रूप में) जब भूमि पर लेटे तो उन्होंने धीरे-धीरे अपने शरीर का आकार बढ़ाना प्रारम्भ किया और अंत में उन्होंने अपने आकार से सम्पूर्ण पृथ्वी को ग्रस्त कर लिया। फलतः विष्णु की अद्‌भूत शक्ति के कारण देवताओं को सम्पूर्ण पृथ्वी प्राप्त हो गई[225]। इस प्रकार तत्कालीन समाज में विष्णु की बुद्धि और शक्ति सर्वाधिक प्रभावकारी और महत्त्वशाली सिद्ध हुई। उपनिषदों में भी विष्णु को परम ब्रह्म के रूप में स्वीकार करके परम पद की प्राप्ति की बात कही गई है। संसार की निर्भरता अन्न के ऊपर थी, इसलिए उसे विष्णु का रूप माना गया था[226]। सूत्र-ग्रंथों के अनुसार जब स्त्री-पुरूष का विवाह सम्पन्न होता था तब उस संस्कार में सप्तपदी के समय कहा जाता था कि विष्णु तुम्हारे साथ रहें। इससे यह लक्षित होता है कि विष्णु जैसे देवता की कृपा और अनुकम्पा की सभी कामना करते थे। महाकाव्यों के समय तक विष्णु परम ब्रह्म परमेश्वर का पद प्राप्त कर सर्वोच्च हो चुके थे तथा वासुदेव से उनका तादात्म्य स्थापित किया जा चुका

220. विष्णु स्मृति, 98.98-101, नारायण । परायण । जगत्परायण । नमो नमो इति ।
221. ऋग्वेद, 1.154.2, यस्योरुषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ।- सायण भाष्य; वही, 1.154.1, विष्णोर्व्यापनशीलस्य ।
222. वही, 1.155.5; 1.22.20, 1.154.5; तदस्य प्रियमांभपायो अस्यां नरो यत्र देवदवो मदन्ति ।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः परमे पदे मध्व उत्सः ॥
223. ऐतरेय ब्राह्मण, 1.1.
224. शतपथ ब्राह्मण, 14.1.1; 1.1.2, 13, यथाक्रमते । विष्णुस्त्वाक्रमतामिति स देवेभ्य इमां विक्रन्ति विधक्रमे।
225. वही, 1.2.5.
226. मैत्री उपनिषद्, 6.13.

था। महाभारत के अनेक स्थलों पर नारायण और विष्णु को परमेश्वर माना गया है तथा वासुदेव भगवान् के रूप में वर्णित किया गया है। युधिष्ठिर ने उनकी स्तुति करते हुए उन्हें 'विष्णु' भी कहा है[227]। पुराणों में भी वासुदेव का तादात्म्य विष्णु से किया गया है। विष्णु पुराण में वासुदेव को विष्णु का नामधारी वर्णित किया गया है[228]। उनका 'विष्णु' नाम इसलिए था कि समस्त जगत् उन्हीं की शक्ति से व्याप्त था[229]। पुराणों में कहा गया है कि उन्होंने अपने तीन पदों से लोकों को विजित करके इन्द्र को प्रदान कर दिया[230]। विष्णु का तृतीय पद भास्वर था, सप्तर्षि-मण्डल के ऊपर ध्रुव तक विष्णु-पद था। वहाँ तक पहुँचने वाले को कोई चिंता नहीं होती थी। लोकसाधक तपस्वी ध्रुव आदि ने विष्णु पद प्राप्त करके ही अचलता प्राप्त की थी[231]।

वासुदेव का गोविन्द, गोपाल और कृष्ण से एकीकरण

वासुदेव भगवान् के लिए गोविन्द नाम महाभारत में अनेक स्थलों पर आया है। भगवद्गीता के अनेक श्लोकों में भगवान के लिए गोविन्द का उल्लेख हुआ है। उनका गोविन्द नाम इसलिए था कि उन्होंने पृथ्वी को (गां) जल में पाया (विन्दति) था[232]। महाभारत के एक स्थल पर भगवान् वासुदेव स्वयं कहते हैं, मैंने पूर्व काल में नष्ट होकर रसातल में गई हुई पृथ्वी को पुनः वराह रूप धारण करके प्राप्त किया था, इसलिए देवताओं ने 'गोविन्द' के नाम से मेरी स्तुति की थी[233]।'' गां विन्दति इति गोविन्दा' अर्थात् जो पृथ्वी को प्राप्त करे उसका नाम गोविन्द है। 'गोविन्द' शब्द ऋग्वेद में गायों के पालने के अर्थ में इन्द्र के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो कालान्तर में वासुदेव कृष्ण के लिए व्यवहृत होने लगा। 'गोपाल' शब्द भी इसी अर्थ में प्रचलित हुआ है, जो बाद में वासुदेव कृष्ण का पर्यायवाची बन गया। कृष्ण ने जब इन्द्र-पूजन के स्थान पर गोवर्धन-पर्वत-पूजन का प्रारम्भ किया था तब उन्होंने कहा था, "हम गोपालक हैं, वनों में घूमते हुए गायों पर अपना पोषण करते हैं। गौ, पर्वत और वन हमारे देव हैं[234]।" गोपालक घोषों (आभीर बस्तियों)' में निवास करते थे, इसलिए वे कहीं भी सफलतापूर्वक

---

227 महाभारत, शांतिपर्व, 43.18, एतन्नामशतं विष्णोधर्मराजेन कीर्तितम् ।
यः पठेच्छृणुयाद्वापि सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

228. वि० पु० , 1.2.7-12.

229. वही, 3.2.45, यस्माद्विष्टमिदं विश्वं तस्य शक्त्या महात्मनः ।
तस्मात्स प्रोच्यते विष्णुर्विशेर्धातोः प्रवेशनात्॥

230. वही, 3.1.43, ब्रह्मांड पुराण, 3.2.118; वायु पुराण, 66.135-36.
त्रिभिः क्रमैरिमांल्लोकाञ्जित्वा विष्णुरुक्रमः ।
प्रत्यपादयदिन्द्राय देवेभ्यश्चैव स प्रभुः ॥

231. वायु पुराण, 50.221-22, ऊर्ध्वोतत्तरमृषिभ्यस्तु ध्रुवोयत्रास्ति वै स्मृतं ।
एतद्विष्णुपदं दिव्यं तृतीय व्योम्नि भास्वरं ॥
नत्र गत्वा न शोचन्ति तद्विष्णोः परमं पदं ।
धर्मध्रुवाद्यस्तिष्ठन्ति यत्र ते लोकसाधकाः ॥

232. महाभारत , आदिपर्व, अध्याय 21.

233. वही, शांतिपर्व, 342. 70., नष्टां च धरणीं पूर्वमविन्दं वै गुहागताम्।
गोविन्द इति तेनाहं देवैर्वाग्भिभिष्टुतः ॥

234. हरिवंश, श्लोक सं० 3808.

बस सकते थे। अतः व्रज का परित्याग करके वे वृन्दावन में बस गए थे। कालांतर में गोपालकों के लिए 'आभीर' (आधुनिक 'अहीर') शब्द भी प्रचलित हो गया। भारतीय इतिहास और साहित्य में आभीरों का समुचित विवरण मिलता है।

वासुदेव के लिए 'कृष्ण' का भी व्यवहार हुआ है। महाभारत में स्वयं भगवान् ने कहा है, "पृथापुत्र अर्जुन, मैं काले लोहे का विशाल फाल बनाकर इस पृथ्वी को जोतता हूँ तथा मेरे शरीर का रंग भी काला है, इसलिए मैं 'कृष्ण' हूँ[235]।" 'कृष्ण' नाम की दूसरी व्युत्पत्ति भी है, जिसके अनुसार कृष् का अर्थ है 'सत्' और 'ण' का अर्थ है आनन्द। अतः 'कृष्ण' सच्चिदानन्द है। पुराणों में कृष्ण के अवतार की कथा संग्रहीत है, जो उनका वासुदेव से तादात्म्य स्थापित करती है[236]। वायु पुराण में भगवान के लिए 'वासुदेव', 'गोविन्द', 'कृष्ण' आदि समानार्थक शब्द प्रयुक्त हुए हैं[237]। 'सुदर्शन' के रूप में दर्शनीय थे।

पांचरात्र मत अथवा भागवत धर्म का ज्ञान-तत्त्व

पांचरात्र मत का विकास तीसरी सदी ई० पू० के लगभग हुआ था, जो वैष्णव-धर्म का प्रधान मत था। इस मत के अन्तर्गत वासुदेव और उनके स्वरूपों का पूजन-आराधन सन्निहित है। इस सिद्धांत के अनुसार सकल विश्व का बीज, 'पौरुषी रात्रि, (प्रलय) के रूप में भगवान् वासुदेव में समाहित है। उनकी शक्ति, इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति और भूतिशक्ति, जो मन, प्राण, और भौतिक प्रकृति की क्षमताओं के रूप में हैं, जागृत हुईं। ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य, और तेज उनके छह गुण हैं; जिनमें ज्ञान और बल, ऐश्वर्य और वीर्य तथा शक्ति और तेज तीन युगल हैं। ये युगल 'व्यूह' के नाम से ज्ञात हैं। ये तीनों व्यूह संकर्षण (कृष्ण के भाई बलराम), 'प्रद्युम्न' (उनका पुत्र) और अनिरुद्ध' (उनका पौत्र) है। इन तीनों 'व्यूहों' के ऊपर वासुदेव व्यूह है। इन चारों व्यूहों से सोलह उपव्यूहों का उदय हुआ, जिनसे चार विद्येश्वर निःसृत हुए। इन सबको मिलाकर वासुदेव की चौबीस मूर्तियां हो गयीं। तदनन्तर भगवान् ने अपने को प्रकृति के विभिन्न रूपों में प्रकट किया, जिन्हें, 'विभव' भी कहा गया और 'अवतार' भी। भागवत पुराण के अनसार ये असंख्य हैं। विश्वकसेन संहिता तो आम के पेड़ को भी उनका अवतार मानती है। अहिर्बुध्न्य संहिता के अनुसार उनके उनतालीस अवतार हैं, जो विभिन्न मूर्ति के रूप में लोगों द्वारा पूजे जाते हैं। 'पांचरात्र' शब्द की व्युत्पत्ति प्राचीन काल में भी हुई थी। नारद के अनुसार इसमें परम तत्त्व, मुक्ति, युक्ति ,योग और विषय (संसार) जैसे पाँच पदार्थ हैं। इसलिए यह पांचरात्र' कहा गया। इसका नियमन स्वयं नारायण ने समग्र प्राणियों के ऊपर आधिपत्य स्थापित करने के लिए किया था। इसका आचार पक्ष वैदिक सिद्धांत पर

---

235. महाभारत शांतिपर्व, 342.79, कृषामि मेदिनी पार्थ भूत्वा काष्णायसो महान्।
कृष्णो वर्णश्च मे यस्मात् तस्मात् कृष्णोऽहमर्जुन ॥

236. हरिवंश, श्लोक सं० 5876-78; भागवत पुराण, 2.7; वायु पुराण, 58.100-102.

237. वायु पुराण, 58.45.46, युयुधे वासुदेवस्तु बिले जाम्बवता सह ।
बाहुभ्यामेव गोविन्दो दिवसानेकावशतिम् ॥
प्रविष्टे च बिलं कृष्ण वासुदेव पुरः सराः।
पुनर्द्वारवतीमेत्य हतं कृष्ण न्यवेदयन् ॥

आश्रित है। 'पांचरात्र' एकायन मोक्ष-प्राप्ति विद्या का भी सर्वश्रेष्ठ साधन माना गया है। भागवत मत और सिद्धांत को व्यंजित करने वाले प्रधान ग्रंथ पांचरात्र संहिताएँ हैं। पुरस्कार संहिता जैसी कुछ पांचरात्र संहिताओं का सन्निवेश रामानुज ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखते हुए किया है[238]। पुरस्कार संहिता का मुख्य वर्ण्य यह है कि ब्राह्मण लोक चतुर्विध आत्मा का आराधन पारम्परिक नामों द्वारा करते हैं। सात्वत संहिता में वर्णित है कि वासुदेव नामवाले ब्रह्म की उपासना करने से ब्राह्मणों को विवेक आता है। परम संहिता में उल्लिखित है कि प्रकृति का स्वरू जड़ परोपभोगार्थ, नित्य, सदा-परिणामिणी और त्रिगुणात्किा से स्थिर होता है, जिसके माध्यम से कर्त्ताओं के कर्म निर्धारित होते हैं। डा० भण्डारकर ने 'सात्वत संहिता' का लम्बा उदाहरण देते हुए पांचरात्र मत का विश्लेषण किया है। 'नित्य' और 'परम ब्रह्म' की उपासना से ही मुक्ति सम्भव है। षड्गुण-सम्पन्न परमेश्वर के कर, चरण और चक्षु सर्वत्र हैं। वह सबके परे हैं। सर्वभूताश्रय होकर भी वह एक हैं। उस परमेश्वर से अलग एक त्रिक् है जो ज्ञान और गुणों के कारण एक दूसरे से पृथक है। ये तीनों व्यूह समान हैं जो अपेक्षित फल प्रदान करते हैं। परमात्मा जगत् के मंगल के निमित्त चार रूपों की सृष्टि करते हैं - व्यूह, विभव, अवतार और अन्तर्यामी। गुणों के आधार पर तीन व्यूहों की सृष्टि होती है - संकर्षण (ज्ञान और बल), प्रद्युम्न (ऐश्वर्य और वीर्य) और अनिरुद्ध (शक्ति और तेज)। इनके कार्य अलग-अलग हैं। संकर्षण का कार्य है, जगत् की सृष्टि और ऐकांतिक (पांचरात्र) मार्ग का उपदेश, प्रद्युम्न का कार्य है तन्मार्गसम्मत क्रिया का निर्देश तथा अनिरुद्ध का कार्य है क्रियाफल अर्थात् मोक्ष-तत्त्व। वासुदेव के उपासक ब्राह्मणों के हृदय में ब्रह्म होता है, जो सृष्टि का लक्ष्य और अन्त है। जगत् के उद्धार के लिए ब्रह्म से महोपनिषद् (सर्वोत्तम ज्ञान-तत्त्व) उत्पन्न होता है जो दैवी तत्त्व से युक्त होकर साधक को विवेक का भान कराता और मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है। आष्टांगिक योग का अभ्यास कराने वालों को, जिनकी आत्मा चिन्तन में लगी रहती है, यह ज्ञान-तत्त्व फल प्रदान करता है। हृदय में स्थित परमात्मा का मनसा, वाचा और कर्मणा स्मरण करने वाला वेदज्ञ ही वास्तविक योगी है।

ब्रह्मसूत्र के अनुसार भागवत धर्म में पूजा की पांच विधियाँ हैं, (1) अभिगमन - मन, वचन और काया से भगवान् के प्रति पूर्ण रूप से उत्सर्जित होकर देवमन्दिर में जाना। (2) उपादान- विभिन्न पूजा-सामग्री एकत्रित करना, (3) इज्या-पूजा करना, (4) स्वाध्याय - भगवान् के मंत्र का जप करना, और (5) योग - समाधि[239]।

नारद पांचरात्र नामक ग्रन्थ में ज्ञानामृतसार संज्ञक संहिता है, जिसमें बालकृष्ण भगवान् का यश-वर्णन है और भक्ति की अपूर्व प्रशंसा की गई है। भगवान् हरि की भक्ति दास्य भाव से करना उत्तम मुक्ति प्रदान करने वाला माना गया है। उसमें भक्ति के छह प्रकार बताए गये हैं - (1) स्मरण, (2) नाम, महिमा और यश का कीर्तन, (3) प्रणमन, (4) चरणों का सेवन, (5) भक्ति के साथ पूजा में निरन्तर लगा रहना, और (6) भगवान् हरि के 'सम्मुख आत्मनिवेदन करना। किन्तु भागवत पुराण में भक्ति के तीन प्रकार निर्दिष्ट किये गये हैं - (1)

---

238. ब्रह्मसूत्र; 22.39-42
239. वही, 2.2.42.

श्रवण (भगवान् की महिमा का वर्णन सुनना), (2) दास्य (भगवान् का दास रूप में पूजन करना), तथा (3) सख्य (सखा भाव से भगवान् के प्रति उत्सर्जित होना)। दास्य और सख्य प्रकार भक्त के लिए पूर्ण आत्मनिवेदन की स्थिति थी। इस दर्शन में राधा को सर्वोत्कृष्ट उज्ज्वल नारी के रूप में स्वीकार किया गया है और भगवान् कृष्ण से उनका तादात्म्य दर्शित करके उनकी उत्पत्ति मानी गयी है। अतः स्पष्ट है कि भक्ति के अन्तर्गत राधा का भी विकास आरम्भ हो चुका था[240]।

'वैष्णव' और 'भागवत' विष्णु के भक्त थे, जो वृष्णियों में प्रधान वार्ष्णेय वासुदेव (कृष्ण) का पूजन करते है। बहुत पहले पांचरात्र और भागवत एक ही थे, किन्तु बाद में उनमें भी अन्तर हो गया। पांचरात्र का प्रधान आधार 'व्यूहवाद' था, जिसमें व्यूहों की पूजा होती थी। पांचरात्र साहित्य की कुछ संहिताएँ चौथी और और सातवीं सदी के बीच कश्मीर में भी लिखी गयीं।'अमरकोश' में पांचरात्र मत के सभी व्यूहों का उल्लेख हुआ है। बलराम, कृष्ण, सुभद्रा अथवा एकानंशा की सम्मिलित पूजा इसी व्यूहवाद के परिवर्तित रूप में प्रारम्भ हुई थी। बाणकृत 'हर्षचरित' में भागवती और पांचरात्रिकों का पृथक-पृथक वर्णन हुआ है। भागवत विष्णु के भक्त और उपासक थे। पांचरात्र संप्रदाय के एक ग्रन्थ 'पदमतन्त्र' में कुछ भेद विवृत किये गये हैं, यथा भागवत, सात्वत, पांचकालवित्, एकान्तिक, तन्मय और पांचरात्रिक। पांचारात्रिकों और भागवतों में प्रधान भेद यह था कि पांचरात्रिक भगवान् नारायण की आराधना करते थे और भागवत वार्ष्णेय (वासुदेव कृष्ण) की।

वैष्णव धर्म का उत्कर्षकाल : ऐतिहासिक सर्वेक्षण

गुप्त-काल में वैष्णव धर्म अथवा भागवत धर्म अपनी पराकाष्ठा पर था। तत्कालीन युग में विष्णु या नारायण अथवा नर-नारायण का पूजन और मूर्ति-निर्माण बहुत अधिक प्रचलित था। स्थापत्य और साहित्य दोनों में विष्णु के विभिन्न रूपों का चित्रांकन हुआ है। उस युग के अधिकांश शासक वैष्णव थे इसलिए वैष्णव स्थापत्य और साहित्य का अधिकाधिक विकास होना स्वाभाविक था। कालिदास ने नारायण और विष्णु को समान माना है,अर्थात् नारायण को नर का मित्र। जैसा ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, अर्जुन नर थे और भगवान् कृष्ण नारायण। कालिदास के ही अनुसार भगवान् विष्णु सागर-तल पर सहस्त्र फणों वाले शेषनाग की शैय्या पर विश्राम करते हैं और उनके फैले हुए चरण उनके पाद-प्रदेश में बैठी हुई लक्ष्मी की गोद में शोभायमान हैं। उनकी चार भुजाएँ हैं, जिनमें क्रमशः शंख, चग्र, गदा और पद्म शोभित हैं। उनके वक्ष पर कौस्तुभ नामक मणि शोभायमान है तथा निकट ही उनका वाहन गरुड़ सेवा के लिए खड़ा है[241]। कालांतर में इसी वर्णन के अनुरूप शेषशायी विष्णु की अनेक मूर्तियाँ गढ़ी गईं। स्पष्ट है, उनकी महिमा वाणी और मन दोनों से परे है। आराधन और स्तुति में ब्रह्म, विष्णु और शिव तीनों के कार्य उनमें समाविष्ट हो जाते हैं और इस प्रकार आरम्भ में वे ब्रह्मण्ड का सर्जन करते हैं, मध्य में उसे धारण करते है तथा अन्त में उनका विनाश कर देते हैं।

गुप्त सम्राटों की मुद्राओं पर उनकी उपाधि 'परम भागवत' उत्कीर्ण है, जो उनके वासुदेव

240. भागवत पुराण, 2.3.24.

241. रघुवंश, 107;8; 6.49; 10.10; 10.13.

उपासक और वैष्णव धर्मावलम्बी होने का प्रबल प्रमाण है। चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त, स्कन्दगुप्त जैसे शासक भागवत धर्म के अनुयायी थे। उनकी मृद्राओं और तत्कालीन अभिलेखों से वैष्णव धर्म सम्बन्धी अनेक संकेत प्राप्त होते हैं। गंगधर-अभिलेख में विष्णु को 'मधुसूदन' के नाम से अभिहित किया गया है। उड़ीसा -स्थित उदयगिरि में चतुर्भुज विष्णु की एक प्रतिमा है, जो 400 ई० की है[242]। उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिला के अन्तर्गत भितरी में स्कन्दगुप्त का एक स्तम्भ लेख शार्ङ्गिन् (वासुदेव-कृष्ण) की मूर्ति का उल्लेख करता है जिसके पूजन आदि के लिए ग्राम-दान किया गया था[243]। कुमारगुप्त के गढ़वा अभिलेख में विष्णु को 'भगवत्' कहा गया है। स्कन्दगुप्त कालीन जूनागढ़ का अभिलेख (456ई०) विष्णु मंदिर के निर्माण का वर्णन करता है तथा वामन रूपधारी विष्णु द्वारा बलि से लक्ष्मी को छल से हर लेने की बात उल्लिखित करता है[244]। मध्य प्रदेश स्थित सागर के एरण नामक स्थान वाले बुद्धगुप्त कालीन अभिलेख (483 ई०) से विदित होता है कि भगवान् जनार्दन (वासुदेव) के स्मरण और सम्मान में ध्वज-स्तम्भ का निर्माण करवाया था[245]। मेहरौली के लौह-सतम्भ से ज्ञात होता है कि चन्द्र नामक सम्राट ने विष्णु-ध्वज का निर्माण करवाया था। अफसद-अभिलेख में 'वासुदेव-पुत्र माधव' के चरणों की लक्ष्मी द्वारा सेवा की बात उल्लिखित है। बुद्धगुप्त के दामोदर के अभिलेख में वर्णित है कि कौशिकी और कोका नदियों के संगम (नेपाल) पर वराह क्षेत्र में हिमालय के शिखर पर वराह स्वामी और कोकामुख स्वामी के मन्दिर का निर्माण हुआ था। प्रायः उसी युग में उस क्षेत्र (वराह क्षेत्र) में दामोदरपुर (दिनाजपुर, बंगाल) के निकट इन्हीं दो देवताओं के निमित्त मन्दिर का निर्माण हुआ था। हूण शासक तोरमाण के एरण से प्राप्त वराहमूर्ति और उसके अभिलेख 'वराह-रूप नारायण' के मन्दिर-निर्माण का संदर्भ मिलता है[246]। कदम्ब राजकुल के तगारे के अभिलेख में वराहावतार का उल्लेख है। पूर्वी चालुक्यों का राज चिह्न ही 'गरुड़' था जो उनके वैष्णव होने का प्रबल प्रमाण था। उनके अधिकांश अभिलेखों का प्रारम्भ वराह की वन्दना से होता है[247]। वराहावतार की सबसे महत्त्वपूर्ण मूर्ति उदयगिरि गुहा की दीवार पर विशालकाय रूप में उभारी गई है, जिसमें पृथ्वी की रक्षा करते हुए वराह-रूपी भगवान को चित्रित किया गया है, जिसके दाँत से अति लघुकाय नारी-मूर्ति (पृथ्वी) लटकी हुई है। ऐसे वराह-रूप-धारी भगवान् का उल्लेख कालिदास ने भी किया है[248]। उनके ग्रंथों में मोरपंखधारी कृष्ण[249] का भी उल्लेख है तथा उनके भाई बलराम (हलधर)[250] और उनकी पत्नी रुक्मिणी का भी संकेत है[251]। गुप्तकालीन अनेकानेक पुराणों में विष्णु के

---

242. कार्पस इन्स्क्रिप्शनम इंडिकेरम, 3, पृ० 51.
243. वही, पृ० 52.
244. वही, पृ० 56.
245. वही, पृ० 88, 221. (टि० : अभी (1980-81) प्रोफेसर के० के० सिन्हा (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) के नेतृत्व में वहां खुदाई की गई जिसमें विष्णु के मन्दिर के अवशेष मिले हैं।)
246. वही, 3, पृ० 159, भगवतो वराहमूर्तेज्जगत्परयणस्य नारायणस्य शिलाप्रसादः ।
247. द क्लासिकल एज, पृ 422-23.
248. कुमारसम्भव 6.8, भुवा, महावराहदंष्ट्रायां विश्रान्ताः ।
249 मेघदूत, पृ० 15 वर्हेणेव ।
250. वही, पृ० 49.
251. मालविकाग्निमित्र, 5.2.विष्णोः च रुक्मिणीम् ।

समस्त अवतारों का विशद विवरण मिलता है। मत्स्य , कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन, राम, परशुराम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि नामक दस अवतारों का उल्लेख मिलता है जिनकी चर्चा पहले की जा चुकी है।

दक्षिण के चालुक्य वंशी शासक मंगलेश के आदेश से पर्वत पर कटे गुफा-मन्दिर में विष्णु और नारायण तथा वराह और नरसिंह की प्रतिमाएँ गढ़ी गई हैं[252]। विष्णु शेषनाग पर लेटे हुए हैं तथा लक्ष्मी उनके चरण दबा रही हैं। एलोरा के दशावतार की विशाल विष्णु-मूर्तियाँ तत्कालीन वैष्णव धर्म के प्रसार की उत्कृष्ट प्रतीक हैं। शेषशायी विष्णु की चरण दबाती हुई लक्ष्मी को दर्शित किया गया है तथा भगवान् की नाभि से निकले कमल पर ब्रह्मा विराज रहे हैं। नरसिंह, वामन, वराह और गोवर्धनधारी कृष्ण की भी आकर्षक और अभिराम मूर्तियाँ हैं।

वराहमिहिर ने अपने 'वृहतसंहिता' नामक ग्रंथ में 'विष्णु और 'भागवत' की चर्चा की है[253]। 'भागवत' शब्द तत्कालीन भागवत सम्प्रदाय की ओर इंगित तो करता ही है, साथ ही विष्णु के भक्तों को भी व्यंजित करता है।

अमरसिंह ने अपने कोश ग्रंथ 'अमरकोश' में विष्णु के 39 विभिन्न नामों की चर्चा करते हुए 'वासुदेव' को उनका पिता माना है।

हर्ष के युग में भी वैष्णव धर्म की गति निरन्तर प्रवहमान थी। वाण ने 'हर्षचरित्' में पांचरात्रिक और भागवत सम्प्रदायों का उल्लेख किया है, जिनके अनुयायी दिवाकर मित्र के आश्रम में रहते थे[254]। भागवत लोग वासुदेव विष्णु की उपासना करते तथा अवतारवाद के सिद्धांत को मानते थे। स्मार्त वैष्णव ब्रज के अधिपति, गायों को चराने वाले तथा गोपियों के प्रिय श्रीकृष्ण की आराधना करते थे। 'कादम्बरी' में अनेक स्थलों पर श्रीकृष्ण के आख्यानों का उल्लेख है। हर्ष के समकालीन प्राग्ज्योतिषपुर (आसाम) के शासक भास्कर वर्मा के कुटुम्ब के लोग वैष्णव धर्म के अनुयायी थे[255]।

वैष्णव धर्म का प्रसार राजपूत-युग में भी तद्वत् था। अनेकानेक अभिलेख, मन्दिर और मूर्तियां इस कथन के प्रमाण हैं। खलीमपुर-दानपत्र से विदित होता है कि विष्णु का पूजन 'ओम् नमो नारायण' के नाम किया जाता था[256]। कभी कभी 'ओम् नमो भगवते वासुदेवाय' भी कहा जाता था[257]। पहाड़पुर की कलाकृतियों में गोवर्धनधारी कृष्ण की भी आकृति है। जयदेव ने राधा कृष्ण सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। प्रतिहार शासक भोज के अभिलेख में विष्णु को निर्गुण और सगुण का प्रतीक मानते हुए 'हृषिकेश' के रूप में वर्णित किया गया है[258]। पूर्वमध्य

---

252. फर्ग्युसन और वर्गेस, केव टेम्पुल्स, पृ० 407.
253. वृहतसंहिता, 60.19.
254. हर्षचरित्, सर्ग, 8, पृ० 236.
255. वही, सर्ग, 7; पृ० 64.
256. इपि० इं०, 16, पृ० 5.
257. वही, 2, पृ० 359.
258. वही, 18, पृ० 95, ओम् नमो विष्णवे.... यस्मिन् विशन्ति भूतानि यत्सर्गास्थितीमते स यः पायाद हृषीकेशो निर्गुणस्सगुणश्चः ।

युग में भी विष्णु अपने सह. नामों से समाज में पूजित और आदृत थें जिनमें वासुदेव नारायण, कृष्ण, मुरारि, आदिकेशव, हरि, माधव आदि नाम अधिक प्रचलित थे। उपासकों द्वारा अत्यन्त मनोनिवेशपूर्वक उनकी स्तुति की जाती थी[259]।

इस युग में अनेक विष्णु मन्दिरों और मूर्तियों के भी निर्माण हुए जिनका उल्लेख तत्कालीन अभिलेखों में हुआ है। ऐसे अनेक अभिलेख मिलते हैं जिनमें मन्दिरों के लिए दिए गए विभिन्न प्रकार के दानों के संकेत हैं। सेन-वंशी शासक अपने को परम वैष्णव कहते थे। चन्देल-शासक परमर्दि के बटेश्वर-अभिलेख में विष्णु-मन्दिर का उल्लेख मिलता है[260]। खजुराहो में चन्देल- शासक के संरक्षण में अनेक देव-मन्दिरों के निर्माण कार्य हुए, जिनमें विष्णु के भी अनेक मन्दिर थे। विष्णु के कुछ मन्दिर वहाँ आज भी हैं जो समकालीन वैष्णव-धर्म-भावना की अभिव्यंजना करते हैं। खजुराहों-अभिलेखों से भी विष्णु मन्दिर की स्थिति का प्रमाण मिलता है[261]। चेदि-शासक लक्ष्मणराज के मंत्री सोमेश्वर ने एक विष्णु मन्दिर बनवाया था[262]। परमार-शासक भोजदेव के वेतम-दानपत्र में गरुड़ध्वज के फहराने का उल्लेख है जो निश्चय ही विष्णु-मन्दिर पर रहा होगा[263]। बंगाल के पाल शासक धर्मपाल के काल में नारायण का मन्दिर निर्मित हुआ था[264]। नारायण पाल के समय के एक अभिलेख से गरुड़ध्वज का संकेत मिलता है[265]। उड़ीसा में अनेक विष्णु-मन्दिरों का निर्माण हुआ था। ऐसे मन्दिरों का केन्द्र भुवनेश्वर था जहाँ बारहवीं सदी में अनन्त वासुदेव का भी मन्दिर बना था।

विष्णु के मन्दिरों के अतिरिक्त इस काल में विष्णु की अनेक मूर्तियाँ भी गढ़ी गईं। शंख, चग्र, गदा और पद्म को अपने करों में धारण किये हुए भगवान विष्णु की मूर्तियां पारम्परिक आधार पर निर्मित हुआ करती थीं। इस प्रकार की मूर्तियाँ पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल से प्राप्त हुई हैं। इस युग में हरिहर (विष्णु और शिव) का भी उल्लेख मिलता है, अर्थात वैष्णव और शैव नामक दो विरोधी सम्प्रदायों को एक साथ सहिष्णु भाव से दर्शित किया गया है। भगवान कृष्ण की भी अनेक मूर्तियाँ इस काल में निर्मित की गयीं। विष्णु की मूर्ति के साथ लक्ष्मी और गरूड़ की भी मूर्तियाँ इस काल में निर्मित की गयीं। विष्णु की मूर्ति के साथ लक्ष्मी और गरुड़ की भी मूतियाँ बनाई गई थीं। परमर्दि के अभिलेख में महालक्ष्मी उत्कीर्ण है जिस पर जल चढ़ाते हुए हाथी चित्रित किया गया है। गुप्त शासकों की मुद्राओं की तरह चेदि-शासक गांगेयदेव, चन्देल-शासक, कीर्तिवर्मा और काश्मीर शासिका दिद्दा की मुद्राओं पर भी लक्ष्मी के चित्र अंकित हैं।

---

259. वही, पृ० 107, शेषाहितल्पधवलाधर भोगमासि, वक्षः स्थलोल्लसित कौस्तुभ कांति शोणम्।
श्यामां वपुः शशि विरोचन बिम्बचुम्बि, व्योम प्रकाशमवतारन्नरकद्विशो वः॥

260. वही, 1 पृ० 211, प्रासादो वैष्णववस्तेन निर्म्मितोन्तर्व्यहनहरिम्।

261. वही, पृ० 129, ते नैतच्चारू चामीकर कलसत्सद्वयीम धाम व्यधापि।
भ्राजिष्णु प्रांशुवंशध्वजपट (पटलां) दोलिता (भोज) वृन्दम॥
देत्यारा तेस्तुषार क्षितिधर शिखर स्पर्द्धिवर्द्धिष्णु रागा।
दृष्टे यात्रासु यत्रत्रिदिव वसतयो विस्मयन्ते समेताः॥

262. वही, 2, 174-77.

263. वही, 18, पृ० 95,100; 19 पृ० 172.

264. वही, 4 खलीमपुर-दानपत्र।

265. वही, 2 पृ० 160.

विष्णु के विभिन्न अवतारों का सन्दर्भ पुरातात्विक साक्ष्यों से भी मिलता है। वैसे, इस युग के कुछ साहित्यिक ग्रंथ भी विष्णु के दस अवतारों का उल्लेख करते हैं। क्षेमेन्द्रकृत (ग्यारहवीं सदी) 'दशावतारचरित', जयदेव (बारहवीं सदी) लिखित 'गीत गोविन्द' आदि प्रतिनिधि ग्रन्थों में विष्णु के दशावतार का वर्णन है। युवराज देव (दशवीं सदी) के बन्धोगढ़ (मध्य प्रदेश, रीवाँ के निकट) अभिलेख में विष्णु के कई अवतारों का उल्लेख है[266]। नागपुर से प्राप्त परमार शासक के अभिलेख में विष्णु को मत्स्य जैसे अनेक रूपों में दर्शित किया गया है[267]। विष्णु का वराह-अवतार समाज में अधिक प्रचलित हुआ था, जिसकी गुप्तकाल से अनेकानेक मूर्तियाँ भी निर्मित होने लगी थीं। दसवीं सदी के मेवाड़ (राजस्थान) के एक अभिलेख में वराह-अवतार का उल्लेख है[268]। यही नहीं, नरसिंह अवतार के भी अनेक अभिलेख मिलते है[269]। राजपूताना से प्राप्त एक अभिलेख में नरसिंह -अवतार का सुन्दर चित्रण किया गया है[270]। बंगाल से प्राप्त चार हाथोंवाली नरसिंह की मूर्ति प्राप्त हुई है[271]। विष्णु के वामन-अवतार की मूर्तियाँ उत्तर भारत से प्रायः नहीं मिलती। बंगाल से प्राप्त अभिलेखों में वामन अवतार के उदाहरण मिलते हैं[272]। यही नहीं, परशुराम की भी कुछ प्रतिमाएँ बंगाल से प्राप्त हुई हैं[273]। महाकवि जयदेव ने परशुराम को जगत्पति और भृगुपति के रूप में उल्लिखित किया है[274]। भोज के ग्वालियर-अभिलेख में राम को विष्णु के अवतार के रूप में विवृत किया गया है[275]। राम की कतिपय लीलाओं का चित्रण पहाड़पुर की कला-कृतिओं में भी हुआ है। ग्यारहवीं सदी के अरब यात्री अलबीरूनी ने स्थानेश्वर (हरियाण) के चग्रस्वामी (विष्णु) का उल्लेख किया है। वह लिखता है, ''तानेसर नगर हिन्दुओं द्वारा अत्यधिक आदृत है। उस स्थान की मूर्ति 'चक्रस्वामिन्' कहलाती है, अर्थात् चक्र का स्वामी[276]।'' गुजरात में चौलुक्य शासक जयसिंह सिद्धराज ने दशावतार का मन्दिर निर्मित कराया था जो सहस्त्रलिंग झील के किनारे स्थित था[277]। उसके एक मन्त्री ने दधिपुर में गंगनारायण के मंदिर का निर्माण कराया था[278]। भीम

---

266. कार्पस इन्स्क्रिप्शनम इंडिकेरम, 4, पृ० 184,186,191, श्रीयुवराजदेवामात्यस्य..... मत्स्य कच्छ वराह परशुराम आदि ।
267. इपि० इं०, 2 पृ० 182. वैश्वरूप्यं समभ्यस्य मीनाद्याकृति कैतवात्।
स्वाभिन्ननिर्मिताशेष विश्वो विष्णुः पुनातुवः ॥
268. इंडि० ऐं०, 58, पृ० 161, हरिरिह निवेशितोयं घटित प्रतिमो वराहेण ।
269. इपि० इं०, 19, पृ० 244; 11, पृ० 190;1, पृ० 124.
270. वही, 11, पृ० 190,
लब्धो निर्मेतुमेभिर्नरिपुरिति रसावृत चक्षुर्नखेषु, त्रासात्तत्रोऽरन्ध्रोदर कुहरदरीमेवलीनं विलोक्य ।
हासोल्लासावहेलं तदितरकर जाग्रेण निर्मिद्य सद्यः, कोशाच्चिक्षेप तज्जंमलमिलं ढनुजं यः स वोव्यान्नृसिंह्यः॥
271. ईस्टर्न इंडियन स्कूल अव मेडीवल स्कल्पचर्स, प्लेट 45,46.
272. वही, प्लेट 46.
273. आइकोनोग्राफी इन ढाक म्यूजियम, प्लेट 39.
274. गीतगोविन्द, केशवधृत भृगुपति रूप जय जगदीश हरे ।
275. इपि० इं०, 18, पृ० 107, तेषां वंशे सुजन्मा क्रमनिहित पदे घाम्नि ब्रजेशुधोरम ।
रामः पौलस्त्यहिश्रं क्षतविहति समित् कर्म चक्रेपलाशैः ॥
276. ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ० 185.
277. द्वयाश्रय महाकाव्य, 15.119, सरस्वती पुराण, 15.5.162.
278. इंडि० ऐं० 10, 158, दोहद-अभिलेख ।

द्वितीय के एक शासकीय अधिकारी ने केशव का मन्दिर बनवाया था[279]। पेहोआ (हरियाण) अभिलेख में 'विष्णु' गरुड़ासन के साथ उत्कीर्ण हैं[280]। गहड़वाल ताम्रलेखों से विदित होता है कि काशी के वरुणा और गंगा के तट पर 'आदिकेशव' का मन्दिर बना था[281]। यह मन्दिर आज भी वर्तमान है जहाँ दर्शनार्थी जाया करते हैं।

समाज में वैष्णव धर्म सम्बन्धी अनेकानेक समारोह और त्यौहार भी प्रचलित हो गये थे जिनका उल्लेख पुराण आदि विभिन्न कृतियों में हुआ है। इस सम्बन्ध में गुप्तकालीन अभिलेखीय प्रमाण भी मिलते हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के उदयगिरि-अभिलेख में 'शयन एकादशी' का उल्लेख है जो आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष के ग्यारहवें दिन मनायी जाती थी[282]। इस दिन हरि (विष्णु) सो जाते थे और कार्तिक के शुक्ल पक्ष की एकादशी के दिन जगते थे। जिस दिन वे जगते थे उसे 'देवोत्थान एकादशी' या 'प्रबोधनी एकादशी' कहते हैं[283]। गंगधर-अभिलेख में कहा गया है कि यह दिन सभीके लिए प्रफुल्लता और उल्लास लाता है[284]। कृष्ण-जन्माष्टमी भाद्रपद के कृष्णपक्ष के आठवें दिन मनायी जाती थी[285]। अलबीरूनी ने भी अनेकानेक वैष्णव त्योहारों का उल्लेख किया है, जिनमें देवशयनी एकादशी, कृष्णजन्माष्टमी, देवोत्थान एकादशी, राम नवमी आदि विशेष प्रसिद्ध हैं, जिनका समकालीन भारतीय साहित्य से भी समर्थन होता है[286]।

राम का अवतार तथा राम की उपासना

विष्णु के अवतारों में राम का अवतार समाज में सर्वाधिक व्यापक, मान्य और प्रतिष्ठित हुआ। राम के महत्त्व और उनके आख्यान की गरिमा को लेकर वाल्मीकि ने 'रामायण' की रचना बहुत पहले ही कर दी थी, जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। किन्तु वासुदेव कृष्ण की तुलना में राम की उपासना का प्रचार और प्रसार उतना नहीं हो सका। वस्तुतः राम को अवतार के रूप में मानने का क्रम परवर्ती काल में, सम्भवतः पहली सदी ईस्वी में प्रारम्भ हुआ, जो गुप्तयुग में आकर पुराण साहित्य में वर्णित हुआ। 'रामायण' में 'राम' के अवतार के रूप का जो उल्लेख मिलता है, वह प्रक्षिप्त है, बहुत बाद में जोड़ा गया है। पुराणों के अतिरिक्त कालिदास कृत 'रघुवंश' में विष्णु के अवतार के रूप में राम-जन्म की कथा दी गई है। वायु पुराण जैसे प्राचीन पुराण के अतिरिक्त अन्य पुराणों में भी राम को विष्णु का अवतार माना गया है। गुप्तयुगीन स्थापत्य और वास्तुकला में रामाख्यान के दृश्य मिलते हैं। देवगढ़, झाँसी से

---

279. इपि० इं० 2,439.
280. वही,1, 184-90.
281. त्रिपाठी, हिस्ट्री अव कन्नौज, पृ० 353.
282. कार्पस इन्स्क्रिप्शनम् इंडिकेरम, 3, 51, आषाढ मास शुक्लैकादश्याम् परमभट्टारक महा-राजाधिरा श्री चन्द्रगुप्ते पाद्यनुध्यातस्ते महाराज छगलग पौत्रस्य महाराज विष्णुदास सनकानिकस्य महाराज देयधर्मः ।
283. इंडि० ऐं०, 43. पृ० 193, देवोष्ठनो एकादश्यां ।
284. एंशिएंट इण्डियन इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० 98, निद्रा व्यायाम समये मधुसूनस्य काले प्रबुद्ध कुमुदागर शुद्धतारे।
285. सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० 382.
286. ग्यारहवीं सदी का भारत पृ० 96-217 ।

राम, सीता, लक्ष्मण आदि की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। किन्तु, पूर्व-गुप्तयुगीन साहित्य में राम का अवतार-रूप नहीं मिलता। पतंजलि के 'महाभाष्य' में इसका संदर्भ मिलता है, न पूर्ववर्ती स्मृतियों में। अतः रामोपासना का वह विकास नहीं हुआ जो वासुदेव कृष्ण की उपासना का हुआ। 1011 ई० में अमितगिरि ने राम को जगत्-स्रष्टा, जगन्नियन्ता, सर्वव्यापक और सर्वज्ञ के रूप में चित्रित किया। राम के चरित्र को महाकवि भवभूति ने अत्यन्त अभिराम और उत्कृष्ट रूप में अभिव्यंजित किया है। माध्व (आनंदतीर्थ) के विषय में यह प्रचलित है कि वे बदरिकाश्रम से भगवान् राम की मूर्ति लाए थे। 1264 ई० के लगभग उन्होंने नरहरि तीर्थ से राम और सीता की प्रतिमाएँ जगन्नाथ धाम मँगवाई थीं। राम, लक्ष्मण और सीता की एक साथ गढ़ी हुई प्रतिमाएँ कुरुक्षेत्र के निकट से प्राप्त हुई हैं, जो संभवतः प्रतिहार शासन भोजदेव और महेन्द्रपाल के काल की हैं। इस समय यह प्रतिमा कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में है। तेरहवीं सदी के लेखक हेमाद्रि के ग्रंथ 'व्रतखण्ड' में रामनवमी के दिन रामजन्म त्योहार मनाने का निर्देश किया गया है[287]। वृद्धहारीत ने अवतारों के साथ राम-अवतार का उल्लेख करते हुए उनकी महत्ता पर प्रकाश डाला है[288]। राम के देवत्व और परम पुरुष रूप को वर्णित करने के लिए 'अध्यात्म रामायण' की रचना की गई थी , जो संभवतः चौदहवीं सदी के बाद की रचना है। नित्य, सर्वज्ञ और आनन्द के रूप में राम का चित्रण किया गया है। मूल, बुद्धिमय और दृश्यमान् पदार्थ नामक आत्मा की त्रिविध प्रकृति बतलाई गयी है, जिनमें अंतिम दो सत्य नहीं हैं। पुस्तक के अंतिम काण्ड के पंचम सर्ग में 'भगवद्गीता' की तरह 'रामगीता' का संयोजन किया गया है जिसे राम ने लक्ष्मण को अद्वैत मत का उपदेश देने के लिए सुनाया था। रामानन्द (मृत्यु 1457 ई०) ने वैष्णव धर्म के प्रसार में ग्रांतदर्शी भूमिका निभाई तथा पारंपरिक जाति-पांति और ऊँच-नीच की व्यवस्था से पूर्णतः अलग होकर मानवतावादी भूमि पर अपने मतों, सिद्धांतों और उपदेशों का प्रसार किया। जनभाषाओं के माध्यम से उन्होंने अपने अनेकानेक अनुयायी बना लिए। उन्होंने वेद, पुराण आदि का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला कि ब्रह्म सर्वत्र है और वह सर्वव्यापी है। आध्यात्मिक आधार पर उन्होंने राम की प्रतिष्ठा की। राम-सीता की उपासना को उन्होंने समाज में प्रचारित किया। कालांतर में आकर रामानंद सम्प्रदाय का विकास हुआ जिसमें पीपा, कबीर, रैदास, मलूकदास, दादू आदि प्रमुख अनुयायी हुए। उनके अनुगामी गले में तुलसी की माला और मस्तक पर त्रिपुण्डयुक्त वैणव टीका धारण करते थे।

रामानंद के अनुयायियों और शियों में बड़े ऊँचे-ऊँचे संत और महात्मा हुए। उनमें उच्च जातियों के अतिरिक्त निम्न जातियों के संत भी थे। भवानन्द, सुखानन्द, आशानन्द, परमानन्द, महानन्द और श्रीमाननन्द ब्राह्मण थे तो, कबीर, रैदास, धन्ना जाट, सेना नाई, सदना कसाई, पीपा आदि निम्न और दलित जाति के। इनमें कबीर अग्रगण्य हैं। उनका जन्म विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से 1425 ई० में हुआ था। नवजात शिशु को वाराणसी के लहरतारा नामक स्थान पर छोड़ दिया गया था, जिसे नूरी नामक जुलाहे और उसकी पत्नी नीमा ने पाला-पोसा। उन्होंने बालक का नाम कबीर रखा, जिसका अभिप्राय है 'महान'। कबीर ने अपने को कभी भी

---

287. व्रतखंड, पृ० 1034.
288. वृद्धहारीत स्मृति, 10.5.145

मुसलमान नहीं स्वीकार किया है। वह अपने को जुलाहा ही कहते हैं। वस्तुतः वह जाति-पांति के झगड़े से सर्वदा अलग-थलग थे। उनमें योगमार्ग, सहजयानी और नाथपंथ के प्रभाव सुरक्षित थे। गुरू रामानन्द की कृपा से उन्होंने अपने संस्कार को सर्जनात्मक क्रिया की ओर उन्मुख किया। हिन्दू-धर्म दर्शन और मुस्लिम सूफी सिद्धांतों को उन्होंने अपने में आत्ममात् किया। उन्होंने अध्यात्म और ज्ञान का धीरे-धीरे अनुभव किया। 'सहज', 'शून्य', 'माया', 'योग', आदि की उन्होंने नैतिक और अपनी परिकल्पना के आधार पर व्याख्या की। उनका मन और मस्तिष्क समकालीन राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक दशाओं से उत्पीड़ित था। वे उस दशा में सुधार करना चाहते थे। अतः उनका हृदय लोककल्याण और मानवतावाद के अभ्युत्थान में लगा। उन्होंने धर्म और भक्ति की व्याख्या अपने अनुसार की। वे धर्म को सहज और सुबोध आधार पर मानते थे। कर्म की सरल प्रक्रिया अपनाकर धर्म को सर्वसाधारण के लिए उन्होंने सुलभ किया। वेद-वाक्य और धार्मिक अन्धानुकरण को उन्होंने प्रश्रय नहीं दिया। साथ ही हिन्दू धर्म के आचार, कर्मकांड, व्रत, अवतार आदि की उन्होंने तीखी आलोचना की तथा उनपर व्यंग्य किया। पाखंड और अंधविश्वास पर स्थित कोई भी धर्म रहा हो, वह कबीर के व्यंग्य वाणों से नहीं बच सका। वे उस धर्म के समर्थक थे, जिसमें न पाखंड हो, न अंधविश्वास, न ऊंच-नीच की भावना हो और न छुआ-छूत की। उनके धर्म में मानवीय गुणों को प्रधान स्थान प्राप्त था। वे स्वयं सहज-सरल आचरण, सत्य और शुद्ध चरित्र, दान-दया की भावना, धैर्य-संतोष का मार्ग, काम-ग्रोध से रहित व्यक्तित्त्व ईर्ष्या-द्वेष-लोभ से विलग चरित्र की कामना करते थे। इन्हीं तत्त्वों पर आधृत उनका धर्म था, जो मानवतावाद का उत्प्रेरक उत्स था। उन्होंने निर्गुण अथवा निराकार ब्रह्म की उपासना की, जो 'साईं' के रूप में उनकी जिह्वा से निसृत था। उन्होंने अपना जीवन 'साईं' के जीवों के लिए अर्पित कर दिया था। मुस्लिम और हिन्दू संस्कृतियों और धर्म के तत्त्वों को अपने ढंग से गृहीत कर कबीर ने समन्वय भी स्थापित किया था। उनका निराकार ब्रह्म समन्वय का प्रतीक था। उनकी भक्ति कर्म और ज्ञान से उच्च थी। उनके अनुसार बह्म की समीपता भक्ति से ही संभव थी। उनका यह स्पष्ट मत था कि जप, स्नान, ध्यान, संयम आदि सब मिथ्या हैं, केवल भक्ति से ही आराध्य देव की अनुभूति की जा सकती है। उनकी भक्ति, प्रेम, राग और सौहार्द पर निर्भर करती है। इसलिए वह प्रेम तत्त्व से आविल है। अपने गुरु रामानन्द के ब्रह्म राम को वे निराकार मानते हुए स्वीकार करते हैं जिसे 'प्रेम प्रीति' से सेवित किया जा सकता है। उसकी प्राप्ति कहीं भी की जा सकती है। इसके लिए मन्दिर, मस्जिद, तीर्थ, व्रत आदि की कोई आवश्यकता नहीं।

कबीर यह मानते हैं कि अंतस् में स्थित ब्रह्म की खोज और प्राप्ति ही 'सहज समाधि' है, जो ज्ञान और भक्ति से ही संभव है। ब्रह्म की विद्यमानता सर्वत्र है, जो 'शून्य' है, जिसके साथ जीव समदर्शिता के आधार पर तादात्म्य चाहता है। यह प्रक्रिया उसी प्रकार होती है जिस प्रकार वेगवती सरिता समुद्र में मिलने के लिए उतावली रहती है। सांसारिक और ऐहिक तत्त्वों के कारण ऐसा नहीं हो पाता, जो 'माया' है। 'योग' से ही तादात्म्य हो पाता है, जो मन के संयम से ही संभव है। उनके अनुसार इस साधना के लिए आसन लगाना, आँखें मूँदना, मुद्रा में रहना, मंत्र-तंत्र का अनुसरण करना, योगी का वेश धारण करना, काम-धंधा त्याग देना,

सम्प्रदायों में सम्मिलित होना आवश्यक नहीं। वस्तुतः मनुष्य के मन में ही आसान, समाधि, जप-तप आदि सभी स्थितियाँ हैं। उनका कथन है :

सो जोगी जाके मन में मुद्रा। रात-दिवस ना करई निद्रा।।

मन में आसन मन में रहना। मन का जप-तप मन सूँ कहना।।

मन में खपरा मन में सिंगी। अनहद वेन बजावे रंगी।।

स्पट है कि कबीर ने मन के संयम पर अधिक बल दिया है तथा ऐन्द्रिय विषय को ध्वस्त करने की बात की है। ऐसा करने से ही सिद्धि की प्राप्ति मानी गई :

पंज पंजारि भसम करि अंका। कहै कबीर सो लहसे लंका।।

मन का संयम साधारण गृहस्थ-जीवन के अनुपालन, पारिवारिक उत्तरदायित्व आदि गार्हस्थ्य श्रम से भी माना गया है।

कबीर जैसे सन्तों ने समस्त विश्व को 'शब्द' (सबद) के रूप में माना है। इस शब्द के दो पक्ष हैं, तान (सुरति) और लय (विरति)। 'सुरति' और 'विरति' का योग असीम और ससीम का संयोग है, जिसके माध्यम से परब्रह्म अपने को अभिव्यंजित करता है। वह प्रक्रिया और निष्पन्नता प्रेमयुक्त है। इसलिए प्रकृति भी प्रेममयी है। अगर देखा जाय तो आकाश, पृथ्वी, जल, वायु, तेज, सूर्य, चन्द्र, आदि प्रकृति के उपादान और परमात्मा के प्रेम के रूप हैं। सकल संसार में प्रेमलीला हो रही है, जिसमें परमात्मा स्वयं तल्लीन है। अतः ईश्वर स्वयं सर्वोच्च प्रेमी है। ऐसी स्थिति में समस्त सृष्टि प्रेम से आविल है। प्रेम के कारण ही मनुष्य दिव्य और प्रांजल है। इसी प्रेम के माध्यम से परम तत्त्व तक पहुँचा जाता है। भक्ति में प्रेम अपेक्षित है। बिना प्रेम के भक्ति का आयाम संभव नहीं।

राम के चरित्र को आदर्श और सर्वगुणसम्पन्न सिद्ध करने में सर्वाधिक और अभूतपूर्व सफलता गोस्वामी तुलसीदास को मिली थी, जिन्होंने जन-भाषा में 'रामचरितमानस' की रचना करके उत्तर भारत के प्रत्येक घर को राम के उज्ज्वल चरित्र से मुखर कर दिया। तुलसीदास के ही प्रयास से वाराणसी तथ अन्य स्थानों पर रामलीला का आयोजन होने लगा तथा अनेक राम-मन्दिरों का निर्माण भी हुआ। हनुमान के पूजन का विधान वाराणसी में उन्होंने स्वयं अनेक हनुमान-मंदिरों की स्थापना करके किया। आज उत्तर भारत में राम-पूजा का जितना प्रसार है, वह सब तुलसीदास और उनकी कृति 'रामचरितमानस' का प्रभाव है, वैसे, राम-पूजा में हनुमान की आराधना एक प्रधान आधार रही है। हनुमान के पराक्रम और शक्ति का संदर्भ महाभारत में भी मिलता है, जो तत्कालीन समाज में हनुमान के प्रभाव को व्यक्त करता है। अर्जुन के रथ की पताका पर वे सर्वदा स्थित रहते थे। पुराणों के विवरण से हनुमान के प्रतिष्ठित स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है। दक्षिण-तंजोर से चोल राज्यकालीन हनुमान की काँस्य मूर्ति मिली है। इसी प्रकार वेलूर से हनुमान की मूर्ति (12वीं सदी) प्राप्त हुई है। भारत के अतिरिक्त दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में भगवान् राम के साथ हनुमान की मूर्ति का भी प्रतिष्ठापन किया जाता था। वहाँ के स्थापत्य में राम-कथा के चित्र दर्शित होते हैं।

दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म

उत्तर भारत की तरह दक्षिण भारत में भी वैष्णव धर्म का प्रसार तीव्र गति से हुआ। दक्षिण में भागवत धर्म के उपासक संत आलवार कहे जाते हैं जिनका समय वही रहा होगा जो उत्तर भारत में हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान का था। उस समय वैष्णव धर्म के संतों के दो वर्ग थे, एक आलवार और दूसरा आचार्य। आलवार अनुयायियों की विष्णु अथवा नारायण के प्रति अपूर्व निठा, भक्ति और आस्था थी, जो भजनों की रचना करके अपने इष्ट देव का गुणगान करते थे। इनमें रामानुज का प्रमुख स्थान है। उनका जन्म श्रीपेरुम्बदूर नामक स्थान पर 1016 ई० में एक द्रविड़ ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम केशव और माता का नाम कान्तिमती था। कांची के यादवप्रकाश के वे शिष्य थे जो शांकर मत के अनुयायी थे किन्तु बाद में रामानुज उनसे अलग होकर स्वतंत्र चिंतन करने लगे। वे प्रख्यात दार्शनिक, धर्म-प्रचारक और समाज के उद्बोधक थे। आचार्य शंकर की भाँति उन्होंने उत्तर-दक्षिण भारत के विभिन्न स्थानों का भ्रमण करते हुए उपदेश दिया। वेदांतसार, वेदार्थसंग्रह, वेदांतदीप, ब्रह्मसूत्र-भगवद्गीता-भाष्य आदि उनके प्रमुख ग्रन्थ हैं। उन्होंने वेदान्त-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था, जिसमें तीन नित्य-तत्त्वों की चर्चा की गई है- (1) जीव (चित्त), (2) जड़ जगत् (अचित्) और (3) परमात्मा (ईश्वर)। जीव, जगत् और ब्रह्म पर उपनिषदों में सविस्तार विचार हुआ है। अतः उन्हीं के आधार पर रामानुज के सिद्धान्त पल्लवित और विकसित हुए। प्राचीन काल से ही परम ब्रह्म, जीव और जगत् की सत्ता को भारतीय दार्शनिकों ने स्वीकृत तथा सूक्ष्म और स्थूल तत्त्वों का विश्लेषण किया था। उपनिषदों के ज्ञान-तत्त्व में रामानुज का विश्वास था। उनके अनुसार ब्रह्म में चित्, अचित् दोनों तत्त्व हैं। चित् आत्मा के रूप में है तथा अचित् से भौतिक जगत् पल्लवित होता है। अचित् तत्त्व प्रारम्भ में अविभक्त रहता है जो बाद में तीन भागों में हो जाता है – तेज, जल और पृथ्वी, इनमें क्रमशः सत्व, रज और तम तीन गुण हो जाते हैं जो धीर-धीरे परस्पर मिलकर स्थूल वस्तुओं के रूप ग्रहण कर लेते हैं। यह 'त्रिवृतकरण' के नाम से जाना जाता है, जिससे भैतिक जगत का उदय होता है। अतः सृष्टि ब्रह्म जितनी ही वास्तविक है और जगत् सत्य है।

रामानुज ने शंकर के मायावाद का खंडन किया है तथा उन्होंने यह नहीं माना है कि ब्रह्म माया द्वारा जगत् के अनेक रूपों में दर्शित होता है। उनका मत है कि जीव और जगत् दोनों ब्रह्म के चित् और अचित् नामक दो तत्त्वों से बने हैं। यह अपने आप में सत्य है।

उन्होंने ब्रह्म को निर्गुण न मानकर सगुण माना है– अनन्त गुणों का भण्डार, जिसमें न राग है, न द्वेष। वह ईश्वर है। ईश्वर और जीव का सम्बन्ध भिन्न है। ईश्वर पूर्ण और अनन्त है तथा जीव अपूर्ण और असीमित, फलस्वरूप दोनों में भेद है। ईश्वर का चित् तत्त्व जीव के रूप में है, इसलिए दोनों में अभिन्नता है। ईश्वर सम्पूर्ण है और जीव उसका एक अंश है, इसलिए दोनों में भेदाभेद है। स्पष्ट है कि ब्रह्म में चित् और अचित् दोनों स्थित हैं जो भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं। जिस प्रकार पूर्ण से अंश का सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार चित् और अचित् का ब्रह्म से। वस्तुतः दोनों साथ-साथ रहते हैं। उनका विचार है कि एक ही वस्तु दो

रूपों में रहती है, एक और अनेक में। दोनों सत्य हैं। एकता में अनेकता है। वे आत्मा और शरीर दोनों को सत्य मानते हैं, जो ब्रह्म के चित् और अचित् रूपों से बने हैं, किन्तु दोनों सीमाबद्ध हैं। आत्मा को सर्वव्यापी इसलिए कहा जाता है कि वह अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण अचित् या भौतिक तत्त्व में प्रवेश कर लेता है। उनके अनुसार, कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों का महत्त्व है तथा समीपता से अज्ञान नष्ट हो जाता है और जीव अपने चिद्रूप को जान जाता है, जो ब्रह्म का एक अंश है।

उन्होंने ब्रह्म के पाँच रूपों की चर्चा की है: परा, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चा। (1) परा, ब्रह्म की सर्वोच्च स्थिति है, जिसमें वह स्रष्टा के रूप में है। वह वैकुण्ठ में निवास करता है, जहाँ देवता और मोक्ष प्राप्त की हुई आत्माएँ उसकी सेवा में रहती हैं, (2) व्यूह में ब्रह्म के तीन रूप होते हैं- वासुदेव, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध; (3) विभव के अन्तर्गत ब्रह्म का अवतार विष्णु अथवा नारायण के रूप में होता है और अपना प्रभाव स्थापित करता है; (4) अंतर्यामी स्थिति में ब्रह्म योग और तप के द्वारा ध्यान में आता है; (5) अर्चा में ब्रह्म मूर्ति के रूप में रहता है तथा अपनी स्थिति का भान कराता है। अतः ब्रह्म की अनुभूति भक्ति ज्ञान और योग से संभव है।

आत्मा को ब्रह्म का स्वरूप माना गया है, जिसके पाँच वर्ग हैं- नित्य, मुक्त, केवल, मुमूक्षु और आबद्ध। (1) नित्य का तात्पर्य जन्म और मृत्यु के बंधन से मुक्त है। आत्मा नित्य है, नष्ट नहीं हो सकती। (2) मुक्त का अर्थ है, बन्धन से मुक्त होना। सभी प्रकार के बंधनों से अलग होकर ब्रह्म का स्मरण, ध्यान और पूजन करना। (3) केवल का अभिप्राय है आत्मा का शुद्ध होकर जन्म और मृत्यु के बंधन से मुक्त हो जाना। (4) मुमुक्षु से आत्मा की मोक्ष की स्थिति का भान होता है, जो अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहती है। (5) आबद्धता का तात्पर्य यह है कि आत्मा विभिन्न प्रकार के बंधनों से जकड़ी हुई है। ऐसी स्थिति में कर्म, ज्ञान, भक्ति और साधना से जीव को सांसारिक मोह-माया से मुक्ति मिलती है तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है।

बाद में मध्वाचार्य (ग्यारहवीं सदी) ने शंकर के अद्वैत और रामानुज के विशिष्टाद्वैत के प्रतिकूल पाँच नित्य भेदों का वर्णन किया – (1) ईश्वर और जीवात्मा, (2) ईश्वर और जड़ जगत्, (3) जीवात्मा और जगत्, (4) एक जीवात्मा और दूसरी जीवात्मा तथा (5) एक जड़ पदार्थ और दूसरा जड़ पदार्थ। मध्व के अनुयायियों ने वैशेषिक पद्धति का अनुसरण किया जिसके अनुसार परमात्मा में अनन्त गुण थे तथा जिनके कार्य आठ प्रकार के थे – (1) सर्जन, (2) पालन, (3) विनाश, (4) समस्त भूतों का नियंत्रण, (5) ज्ञान प्रदान करना, (6) स्वयं को आलोकित करना, (7) भूतों को सांसारिक बंधन से आबद्ध करना तथा (8) उनका उद्धार करना। जीवों की संख्या अनन्त मानी गई थी, जिनके तीन प्रकार थे– (1) ब्रह्मत्व प्राप्त करने योग्य, (2) सर्वदा जीवन-चक्र में लगे रहनेवाले और (3) अन्धकार में रहनेवाले। पहले प्रकार में देव, पितृ और ऋषि थे, मनुष्य दूसरे प्रकार में तथा दैत्य, प्रेत और क्रूर लोग तीसरे प्रकार में। जगतस्त्रष्टा परमात्मा समस्त ज्ञान का स्त्रोत एवं सर्वोत्कृष्ट है, जो विष्णु है। वह सत्पुरुषों को मोक्ष प्रदान करता है।

वैष्णव धर्म के अन्तर्गत निम्बार्क सम्प्रदाय का भी विकास हुआ। निम्बार्क तैलंग ब्राह्मण थे जो बेल्लारी जिले के निम्ब नामक ग्राम के रहनेवाले थे। उन्होंने अपने मत के प्रचार के लिए संस्कृत भाषा अपनायी। उनका सिद्धांत वेदांत मत का भेदाभेद अथवा द्वैताद्वैतवादी है। रामानुज के सिद्धांतों को उन्होंने खंडित किया तथा यह माना कि जड़ जगत् और जीवात्मा अपनी सत्ता और क्रिया के लिए ईश्वर पर भी निर्भर है। अतः इस युग का आत्मा, परमात्मा और जगत् संबंधी संपूर्ण दर्शन-तत्त्व उपनिषदों में विवृत ज्ञान-तत्त्व से प्रभावित है।

कृष्ण की उपासना: वल्लभ सम्प्रदाय

हिन्दू समाज में विष्णु के अवतार के रूप में कृष्ण का अधिक मान और सम्मान रहा। कृष्ण के उपासकों का आविर्भाव महाभारत-युग से ही प्रारम्भ हो चुका था, जो वासुदेव कृष्ण की उपासना करते थे। इसका सम्यक् प्रचार वल्लभाचार्य (जन्म 1469ई०) के नेतृत्व में हुआ। उनके पिता का नाम लक्ष्मणभट्ट और माता का नाम यल्लमगरु था। वे तेलुगु प्रदेश के रहनेवाले तैलंग ब्राह्मण थे, जो उत्तर में आकर वाराणसी में बस गए थे। वे लोग वैष्णव उपासना और साधना में अनुरक्त थे। वल्लभाचार्य कुछ समय तक काशी, मथुरा और वृन्दावन में रहे। उसी समय उनको स्वप्न हुआ कि भगवान् कृष्ण श्रीनाथ जी के रूप में गोवर्धन पर्वत पर तथा उनके सखा गोकुल में उत्पन्न हुए हैं। भगवान! की ओर से उनको निर्देश हुआ कि वहाँ जाकर उन्हें श्रीनाथ जी का परिचारक बनाएँ, जिससे भगवान पहले की ही तरह लीला कर सकें। इसके बाद वल्लभाचार्य ने श्रीनाथ जी (देवदमन) का दर्शन किया और उनके निर्देशानुसार उनका एक देवमन्दिर निर्मित करवाया तथा उनकी उपासना प्रारम्भ की। इस प्रकार वल्लभाचार्य ने पुष्टिमार्ग का प्रवर्तन किया तथा उसे कृष्णरूपी श्रीनाथ जी से सम्बद्ध किया। उनका वेदांत-सिद्धांत उनके पूर्वतर्ती विष्णुस्वामी के सिद्धांत के अनुरूप था। नाभा जी ने 'भक्तमाल' में ज्ञानदेव, नामदेव त्रिलोचन और वल्लभ का उल्लेख किया है[289]। वल्लभाचार्य ने धर्म सम्बन्धी विभिन्न मतों और सिद्धांतों का अध्ययन करके अपना स्वतंत्र चिंतन किया था। उनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि शंकर, रामानुज, मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी जैसे विचारकों के मतों से निर्मित हुई थी। विष्णुस्वामी का वेदांत-सिद्धांत उपनिषदों से गृहीत किया गया है, जिसमें जीवात्मा, जगत् और अन्तर्यामी आत्मा का उल्लेख है। ब्रह्म से इनका निस्सरण हुआ है। जड़ जगत् में चित् और आनन्द रूप उसी के कारण सम्भव है। समस्त संसार ब्रह्म का स्वरूप है। अविद्या अथवा भ्रम के कारण ब्रह्म का सत्य स्वरूप दृष्टिगत नहीं होता, अव्यक्त रहता है। जीवात्मा का ब्रह्म से अटूट सम्बन्ध है तथा वह उसी का एक अंश है। इस प्रकार आत्मा और परमात्मा एक ही हैं तथा दोनों में समान तत्त्व हैं, अन्तर केवल इतना ही है कि जीवात्मा में एक अंश अव्यक्त है। उनके अनुसार ब्रह्म सृष्टि का कर्त्ता है। वह जगत् के कण-कण में निहित है तथा सभी वस्तुएँ उसी के रूप हैं। आत्मा भी उसी का अंश है अतः दोनों ही अभिन्न हैं, दोनों ही अविकृत हैं। यही शुद्धाद्वैत कहा जाता है। जीव दो प्रकार के माने गए हैं- (1) संसारी और (2) मुक्त। संसारी जीव वह है जो आवागमन के चग्र में फँसा हुआ है तथा मुक्त जीव वह है जो सांसारिक जीवनचग्र से पृथक्

289. भक्तमाल, पृ० 95-98.

है। अतः संसारी जीव इन्द्रिय और शरीर से जगत् के बन्धन में बँधे रहते हैं तथा मुक्त जीव सांसारिक बन्धन से अलग रहते हैं। श्रीकृष्ण ही परमब्रह्म, सच्चिदानन्द और पुरूषोत्तम हैं। उनमें दिव्य गुण हैं तथा उनकी लीलाएँ सनातन हैं। वैकुण्ठ में भी वे लीला करते हैं, इसलिए वे परमानन्द हैं। वल्लभाचार्य के अनुसार धर्म के बिना दर्शन अथवा चिन्तन का कोई अस्तित्त्व नहीं, साथ ही दर्शन या चिन्तन के न रहने पर धर्म दिशाहीन है। ऐसी स्थिति में ब्रह्म की अभिव्यंजना में धर्म अनुभूति है और दर्शन चिन्तन। मोक्ष के विवेचन में उनका मत है कि कर्म, ज्ञान और भक्ति इसके तीन साधन हैं। कर्म और ज्ञान नामक दोनों साधन अत्यन्त कठिन और जटिल हैं, केवल भक्ति का साधन सरल और सुबोध है, जिसके माध्यम से व्यक्ति मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। अतः भक्ति ही मोक्ष-प्राप्ति का साधन और माध्यम है। वल्लभ ने भक्ति के चार प्रकार बताए गए हैं- (1) प्रवाह-पुष्टि भक्ति, (2) मर्यादा-पुष्टि भक्ति, (3) पुष्टि-पुष्टि भक्ति तथा (4) शुद्ध-पुष्टि भक्ति। प्रवाह-पुष्टि भक्ति के अन्तर्गत वे लोग थे जो सांसारिक माया में आबद्ध होकर 'मैं' और 'मेरा' की भावना से भक्ति करते हैं। मर्यादा-पुष्टि भक्ति को वे अपनाते थे जो सांसारिक सुखों से अपने मन को हटाकर भगवान् के पूजन-अर्चन में अपना जीवन व्यतीत करते हैं। पुष्टि-पुष्टि भक्ति के अनुगामी वे थे जो भगवान की कृपा (पुष्टि) का अनुभव करते हुए पुनः अनुग्रह प्राप्त कर ज्ञान प्राप्त करते हैं। शुद्ध-पुष्टि भक्ति को वे लोग चाहते हैं जो मात्र प्रेम के आधार पर भगवान की आराधना करते हैं। अतः भक्ति भगवान के कारण ही सम्भव है।

वल्लभाचार्य के ज्ञान और भक्ति के नेतृत्व में हिन्दू समाज को एक नई दिशा मिली। उन्होंने हिन्दू धर्म और संस्कृति का पुनरुत्थान किया। आवश्यकतानुसार समसामयिक समाज और धर्म में वे परिवर्तन भी चाहते थे। उन्होंने अपने ज्ञान और चिंतन के बल पर हिन्दू समाज के लिए अभूतपूर्व कार्य किया। सार्वभैम धर्म के आधार पर वे हिन्दू समाज में सुधार चाहते थे तथा जाति जैसी रूढ़िवादी संस्था का वे विरोध करते थे। उनके अनुसार जाति-व्यवस्था का आधार गुण और कर्म था, जन्म नहीं। शूद्रों को वे निम्न नहीं मानते थे, बल्कि उनकी सेवावृत्ति के कारण उन्हें भगवान् के अधिक समीप समझते थे। समन्वय-भावना से वे अपने कार्यक्रम को संचालित करते थे तथा सभी वर्गों को संतुष्ट करके वे अग्रसर होते थे। स्त्री और पुरुष में वे कोई भेद नहीं करते थे। उनके अनुसार दोनों में निवास करनेवाली आत्मा समान है। प्रेम और भक्ति की भावना से सभी व्यक्तियों का वे उत्थान चाहते थे। उनकी यह मानवतावादी भूमि अत्यन्त दृढ़ थी।

बंगाल में कृष्ण-भक्ति और महाप्रभु चैतन्य

धर्म और भक्ति आन्दोलन का प्रसार बंगाल में भी हुआ। वहाँ कृष्ण-भक्ति के उन्नायक चैतन्य महाप्रभु (1485-1533 ई०) थे जो वल्लभाचार्य के समकालीन थे। भक्ति आन्दोलन से बंगाल और उड़ीसा आप्लावित हो चुका था। उन्होंने प्रेम के आधार पर कृष्ण-पूजा का प्रवर्तन ही नहीं किया, बल्कि भाव और रागात्मक वृत्ति के आधार पर कृष्ण की उपासना का भी प्रचार किया। धर्म-सुधारक के रूप में उन्होंने तत्कालीन धार्मिक कुरीतियों और आडम्बरों को समाप्त

करने का प्रयास किया। उनका जन्म नवद्वीप (नदिया) के माया।पुर गाँव के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम जगन्नाथ मिश्र था और माता का नाम शची। उनका प्रारम्भिक नाम विश्वम्भरनाथ मिश्र था जो बाद में कृष्ण चैतन्य के नाम से ख्यात हुआ। उन्होंने चौबीस वर्ष की आयु में अपना गृह त्याग दिया और भ्रमण के लिए निकल पड़े। पुरी, गया, काशी, प्रयाग, मथुरा आदि तीर्थों की उन्होंने यात्रा की। उन्होंने गुजरात की भी यात्रा की। अपने भ्रमण में उन्होंने अनेक हिन्दू-मुस्लिम संतों से सत्संग भी किया। गीत गाते हुए वे सर्वदा भक्ति में डूबे रहते थे। उनके सर्वोच्च देवता कृष्ण थे, जो प्रेम और अनुराग के आगार थे। चैतन्य के अनुसार जगत् में उन्हीं की शक्ति व्याप्त है, जो माया शक्ति के कारण शरीर को ग्रहण करती है। वे ही सबकी आत्मा हैं। उनमें विलास शक्ति है, जो दो प्रकार की है, एक प्रभव विलास, जिसके कारण कृष्ण मनचाहा रूप धारण कर लेते हैं और दो-दो गोपियों के बीच एक-एक कृष्ण क्रीड़ा करते हैं; दूसरा विभव विलास, जिसके फलस्वरूप कृष्ण चतुर्व्यूह या वासुदेव संकर्षण आदि का स्वरूप धारण करते हैं। उनमें सत्व, रज और तम तीनों गुण हैं, जो विष्णु, ब्रह्म और शिव के परिचायक हैं। गोलोक में उनकी लीलाएँ शाश्वत रूप में चला करती हैं। कृष्ण में तीन शक्तियाँ हैं- (1) आन्तरिक (चित्त) शक्ति, (2) बाह्य (माया) शक्ति तथा (3) जीव शक्ति। उनमें आह्लाद शक्ति भी है जो पूर्णतः प्रेम से ओतप्रोत है। प्रेम की पराकाष्ठा राधा है, जहाँ प्रेम राधा में प्रतिष्ठित है। इसलिए चैतन्य प्रेम के वशीभूत थे और उसी में तल्लीन रहा करते थे। प्रेम और भक्ति उनके प्रधान आधार थे। वैसे, उनकी भक्तिसाधना के नौ आधार थे- एकेश्वरवाद (हरि अथवा कृष्ण के अलावा कोई दूसरा ईश्वर नहीं), आदिशक्ति (श्रीकृष्ण), रससागर (कृष्ण रस के समुद्र अर्थत् प्रेम के अगाध सागर हैं), जीव-आत्मा, प्रकृति से आबद्ध आत्मा, प्रकृति के बन्धन से मुक्ति, हरि का अचिन्त्य भेदाभेद प्रकाश और भक्ति। इस प्रकार चैतन्य की भगवान् श्रीकृष्ण में अपार भक्ति थी।

चैतन्य महाप्रभु के अनेक अनुयायी हो गए जो मस्तक पर दो सफेद लम्बी रेखाएँ खीचते तथा तुलसी की माला पहनते थे। वे लोग अपने गुरुओं को देव-तुल्य मानते थे। बंगाल में कृष्ण को आराध्य देव मानकर प्रेम और राग का स्वर फूँकनेवाले चैतन्य महाप्रभु ही थे।

महाराष्ट्र में वैष्णव धर्म

पूर्वमध्य युग में वैष्णव धर्म का प्रचार और प्रसार महाराष्ट्र में भी हुआ। इसका प्रधान केन्द्र भैमरथी (भीमा) नदी के तट पर बसा पण्ढरपुर नामक नगर था, जहाँ विठोवा का मंदिर स्थित है। भगवान् विष्णु के लिए 'विट्ठल' शब्द का व्यवहार किया गया है। उपर्युक्त मंदिर तेरहवीं सदी के मध्य में ख्यात हो चुका था। एक ताम्रपत्र (1249 ई०) से विदित होता है कि देवगिरि के यादव राजवंशी कृष्ण के सेनापति राष्ट्रिय मल्लिसेट्टी ने बेलगाँव जिले में भैमरथी के तट पर स्थित पौण्डरीक क्षेत्र में विष्णु के निमित्त एक गाँव दान में दिया था[290]। इस प्रकार स्पष्ट है कि पौण्डरीक क्षेत्र पण्ढरी या पण्ढरपुर था जहाँ विष्णु के लिए गाँव दान में प्रदान किया गया था। वे विष्णु 'विट्ठल' या 'विठोवा' ही थे। एक अन्य अभिलेख (1270 ई०)

290. इंडि० ऐं०, 14 पृ० 68.

उल्लिखित है कि केशव के पुत्र भानु ने पाण्डुरंगपुर में आप्तोर्याम नामक यज्ञ सम्पन्न किया था[291]। उस यज्ञ में विट्ठल तथा अन्य देवताओं के साथ अनेक लोग प्रसन्न किये गए थे। विष्णु के कारण ही पाण्डुरंगपुर नाम विख्यात हुआ था और जब विठोवा का मन बढ़ा तब पाण्डुरंग नाम विट्ठल हो गया। विट्ठल सम्प्रदाय एक स्वतंत्र मत के रूप में विकसित हुआ जिसमें कृष्ण की आराधना की जाती थी। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक पुण्डलीक थे जिन्होंने कृष्ण रूक्मिणी के मन्दिर का निर्माण किया था। कृष्ण को 'विट्ठल' या 'विठोवा' कहा गया तथा रूक्मिणी को 'रूक्माई' या 'रूक्माबाई'। अतः महाराष्ट्र में कृष्ण-पूजन के रूप में वैष्णव धर्म का विस्तार हुआ, जिसके अनुयायियों में उच्च और निम्न सभी वर्गों के लोग सम्मिलित थे। इस सम्प्रदाय के संत प्रायः शूद्र थे, इसलिए इसके अनुयायियों में अधिक संख्या निम्न जातियों की थी। नामदेव (जन्म 1270 ई०) और तुकाराम (मृत्यु 1649 ई०) ऐसे ही संत थे जिन्होंने भक्ति आन्दोलन को तीव्रता प्रदान की। नामदेव ने मराठी के अतिरिक्त हिन्दी में भी भक्तिपूर्ण गीत लिखे। उनका प्रधान मत हृदय-शुद्धि, प्रभु के चरणों में अर्पण, ध्यान, व्रत, उपवास, आदि से सम्बद्ध था। उनके अनुसार ब्रह्म अथवा परमात्मा ही प्रधान है, जो सर्वत्र व्याप्त है। मनुष्य के अंतस् और बाह्य में वह स्थित है। मोक्ष के लिए भक्ति का मार्ग श्रेयस्कर है। सत्संग, तीर्थयात्रा, ध्यान और पूजन से ब्रह्म का अनुभव होता हैं। तुकाराम और उनके सात पूर्वज विठोवा के सच्चे उपासक थे। उनके प्रथम पूर्वज विश्वम्भर ने नगर में ही विठोवा और रूक्मिणी की प्रतिमाएँ स्थापित की थीं। कालांतर में तुकाराम ने अपनी सारी सम्पत्ति त्याग कर अपना शेष जीवन विठोवा के पूजन-अर्चन में व्यतीत किया। वे भजनों के माध्यम से विठोवा के गुण गाते तथा उनकी उपासना में तल्लीन रहा करते थे। उनके अनुयायी उनके गीत गाते हुए सर्वत्र घूमा करते थे। अतः उनकी प्रसिद्धि इतनी फैली कि शिवाजी उनके भजन सुनने के लिए आतुर रहा करते थे। वे भगवत्प्रेम को ही उपासना और भक्ति का प्रधान मार्ग मानते थे।

पंजाब में भक्ति-साधना और गुरु नानक

पंजाब में सिख धर्म का स्थापन-प्रवर्तन तथा भक्ति और साधना का आन्दोलन गुरु नानक ने प्रारम्भ किया एवं अपनी भक्ति-माधुरी से समस्त पंजाब को झंकृत कर दिया। हिन्दू धर्म की संकीर्णता और कठोरता से उस युग का समाज संत्रस्त था। इसके साथ ही मुस्लिम धर्म और सभ्यता की आतंकवादी और प्रसारवादी नीति भी तत्कालीन जनता के लिए कम भयंकर नहीं थी। ऐसे ही संक्रमण काल में गुरु नानक का धर्म और समाज-सुधारक के रूप में उदय पंजाब की जनता के लिए एक नवीन उत्साह और मार्ग-निर्देश था। नानक का जन्म एक खत्री परिवार में कार्त्तिक पूर्णिमा के दिन नवम्बर, 1469 में पंजाब के गुजरानवाला जिलान्तर्गत रावी नदी के तट पर स्थित तालबंदी नामक ग्राम में हुआ था। उन्होंने हिन्दी, संस्कृत और फारसी की शिक्षा ग्रहण की थी। किन्तु उनका मन अध्ययन में नहीं लगता था। अतः उन्हें कृषि और व्यापार आदि का कार्य सौंपा गया लेकिन उनका इन कार्यों में भी मन नहीं लगा। वास्तव में उनका मन भक्ति, एकान्त साधना और ज्ञानप्राप्ति में तल्लीन रहा करता था। परिवार के व्यवसाय और

291. अर्ली हिस्ट्री अव द दकन, पृ० 115.

व्यापारिक कार्यों से वे विरक्त रहा करते थे। अट्ठारह वर्ष की अवस्था में उनका विवाह कर दिया गया, जिससे उन्हें दो पुत्र उत्पन्न हुए। घर-गृहस्थी में भी उनका चित्त नहीं लगा और कुछ समय बाद वे गृह का त्याग करके ज्ञान की खोज में निकल पड़े। भारत-भ्रमण के साथ-साथ उन्होंने अफगानिस्तान, मिस्त्र, तुर्किस्तान, लंका, चीनं, बर्मा आदि दूसरे देशों की भी यात्रा की। तदनन्तर करतारपुर में रहकर उन्होंने अपनी गीतमय वाणी से साधारण जन को कृतकृत्य किया। 1539 ई० में उनका देहावसान हुआ। उनकी अन्तिम क्रिया को लेकर उनके हिन्दू और मुस्लिम शिष्यों के बीच विवाद खड़ा हो गया, फलस्वरूप उनके शिष्यों को पार्थिव शरीर के स्थान पर पुष्प ही मिला। उनके हिन्दू अनुयायियों ने मंदिर और मुसलमान अनुयायियों ने मकबरा बनवाया, जो कुछ ही दिन बाद रावी नदी की उफनती बाढ़ में समा गए।

नानक की दृष्टि में सारी पृथ्वी एक पावन स्थल है और उसमें रहनेवाले सभी समान हैं। सत्य से प्रेम करनेवाला ही पवित्र है। भगवान् अथवा ब्रह्म का रूप सत्य है (सत् श्री अकाल)। मनुष्य सत्य का अनुगमन करके उस ब्रह्म तक पहुँच सकता है। पाखण्ड-आडम्बर युक्त धर्म निरर्थक है। ऐसे धर्म से मानव मात्र के बीच अन्तर ही बढ़ता है। कबीर की तरह उन्होंने हिन्दुओं के संध्या-पूजन और पाषाण-पूजन का विरोध किया है। इसी प्रकर मुसलमानों के लिए उनका कथन है कि "दया को मस्जिद समझो, उसमें सत्य की फर्श बिछाओ, न्याय और सच्चाई को कुरान जानो, नम्रता को सुन्नत समझो, सौजन्य को रोजा (व्रत) मानो, तब तुम मुसलमान कहे जाओगे।" इसी तरह उन्होंने हिन्दुओं को सम्बोधित किया कि "मैंने चारों वेद पढ़े हैं, अड़सठ तीर्थों में स्नान किया है, वनों और जंगलों में निवास किया है और ऊपर और नीचे के सातों संसार का ध्यान किया है तथा मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि वही व्यक्ति अपने धर्म के प्रति निष्ठावान् है जो ईश्वर से डरता और अच्छे कर्म करता है।" उन्होंने समस्त मानव को सच्चाई और नैतिकता का मार्ग अपनाने के लिए निर्देशित किया है। उन्होंने प्रवृत्ति मार्ग की व्याख्या की तथा निवृत्ति मार्ग की आलोचना की। हिन्दू, जैन, मुसलमान, योगी और मुल्ला के आडम्बरयुक्त धर्म का उन्होंने विरोध किया है। धर्म के बाह्य आचारों और कार्यक्रमों की उन्होंने भर्त्सना की।

उन्होंने अपने धर्म के सिद्धान्तों का मानवतावादी धरातल पर दार्शनिक प्रतिपादन किया है। ब्रह्म, जगत्, आत्मा और माया की उन्होंने अपने ढंग से व्याख्या की है। उनका ब्रह्म अथवा परमात्मा एकेश्वरवाद का प्रतीक है। यही नहीं, वह अकाल, अजन्मा और स्वयंभू है। वह अलख, अगम, अपार और इन्द्रियों से परे है। उसका न कोई काल है, न कर्म। वह जाति-अजाति से भी दूर है। वह निर्गुण, सगुण, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान, अन्तर्यामी, पतितपावन, कृपालु, सखा-सहायक, माता-पिता, स्वामी सभी कुछ है। उनका ब्रह्म अवतार के सर्वथा भिन्न है और स्वतंत्र हैं।

उनके अनुसार जगत् की सृष्टि परमात्मा ने कृपापूर्वक की जो अलख और अगोचर है। उस समय सर्वत्र अंधकार था। पृथ्वी, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा कुछ भी नहीं था। केवल शून्य था। तदनन्तर सृष्टि हुई।

माया को उन्होंने भ्रम माना है, जो जंगल के रूप में है। एक स्थल पर माया के लिए उनका कथन है कि वह बुरी सास है जो जीवरूपी वधू को अपने गृह अर्थात् आत्मसुख में नहीं रहने देती तथा परमात्मा-रूपी प्रियतम से जीवरूपी वधू को मिलने नहीं देती।

उनका मत है कि जीव की उत्पत्ति परमात्मा से हुई है। आत्मा अमर है, अजर है। शरीर नष्ट हो जाता है किन्तु आत्मा नष्ट नहीं होती। गीता के आधार पर उन्होंने आत्मा का विश्लेषण किया है तथा उसी तरह आत्मा की विशेषता दर्शित की है।

गुरू नानक ने मोक्ष-प्राप्ति के लिए भक्ति को साधन माना है। कर्म, ज्ञान और योग के मार्ग का उन्होंने त्याग किया है। उनके अनुसार सरल और सुबोध भक्ति का मार्ग ही श्रेयस्कर है। भक्ति को अंधविश्वास, अंधश्रद्धा और भगवान् के विभिन्न नामों से अलग माना है। उनकी भक्ति में सेवा-भाव और प्रेम-भाव है।

अतः ऊपर के विश्लेषण को संपिंडित करके कहा जा सकता है कि वैष्णव धर्म का प्रसार भारत में भक्ति और ज्ञान के मार्ग को प्रशस्त करने के उद्देश्य से हुआ था, जिसमें विष्णु के विभिन्न अवतारों की उपासना और साधना भी सन्निविष्ट थी। यह सही है कि पूर्ववर्ती काल में वासुदेव कृष्ण के पूजने का अधिक विस्तार हुआ, किन्तु मध्ययुग में कृष्णोपासक और रामोपासक दोनों सम्प्रदायों का समानान्तर गति से प्रसार हुआ। उत्तर भारत में इसका समस्त श्रेय रामोपासक रामानन्द और तुलसीदास तथा कृष्णोपासक वल्लभ, सूरदास और मीराबाई को है। बंगाल और उड़ीसा में चैतन्य और उनके अनुयायियों ने कृष्ण की लीलाओं का प्रचार तथा प्रेमतत्त्व का प्रतिपादन किया। पंजाब में गुरु नानक ने सिख धर्म का प्रवर्तन कर आशा और विश्वास का नया दीप जलाया। भक्ति का नया स्वरूप खींचा। राजस्थान में मीराबाई ने कृष्ण-भक्ति के माध्यम से नवीन उत्साह उत्पन्न किया। महाराष्ट्र में नामदेव और तुकाराम के प्रयास से कृष्ण की उपासना घर-घर फैली। परवर्ती उपासकों और चिन्तकों ने जनभाषा को अभिव्यक्ति का प्रधान आधार मानकर अपने विचारों को जन-जन तक पहुँचाया, जिससे साधारण जनता भी आत्मा, परमात्मा और ब्रह्म सम्बन्धी गूढ़ विषयों को समझ सकने में समर्थ हुई।